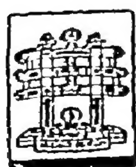
दक्षिण भारतमें जैनधर्म

पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्ताचार्य

*



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक-१२
ग्रन्थमाला सम्पादक :
डॉ० आ० ने० उपाध्ये, डॉ० हीरालाल जैन, लक्ष्मीचन्द्र जैन



Murtidevi Hindi Series Title No 12

DAKSHINA BHĀRATA MEN
JAINA DHARMA
(Jainism in South India)

Pt KAILASH CHANDRA
SIDDHĀNTĀCHĀRYA

Published by
Bharatiya Jnanpith
First Edition 1967
Price Rs 7 00



प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५
विक्रय-केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण १९६७
मूल्य ७ ००

सन्मति मुद्रणालय,
वाराणसी-५

लेखकके दो शब्द

यद्यपि जैनधर्मके चौबीस तीर्थंकरोंका जन्म और निर्वाण उत्तर भारतमें हुआ किन्तु भगवान् महावीरके पश्चात् दक्षिण भारतका जैनधर्मके इतिहासमें विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। पुरातन इतिहासके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें जब उत्तर भारतमें बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पडा तो श्रुतकेवली भद्रबाहुने बारह हजार मुनियोंके संघके साथ दक्षिण भारतकी ओर प्रस्थान किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त भी राज्य त्यागकर उनके साथ गये। इस घटनाके पश्चात् मगधसे जैनधर्मकी धारा एक ओर दक्षिण भारतमें प्रवाहित हुई तो दूसरी ओर मथुरा होती हुई सौराष्ट्रमें भी प्रवाहित हुई।

श्री देसाईके मतानुसार जैनधर्म उत्तर भारतसे आन्ध्रमें पहुँचा। उसके पश्चात् तमिलमें पहुँचा। तमिलमें जैनधर्मने एक ओर आन्ध्रकी ओरसे प्रवेश किया तो दूसरी ओर भद्रबाहुके आदेशानुसार मैसूर प्रदेशकी ओरसे प्रवेश किया। तमिलनाडमें जैनधर्मके प्राचीनतम अवशेष निश्चय ही ईस्वी पूर्व तीसरी या दूसरी शताब्दीसे सम्बद्ध हैं। आन्ध्रमें जैनधर्मको बौद्धधर्मका सामना करना पडा, फिर भी १६वीं शताब्दी तक उसकी कर्तृत्व शक्ति अपना काम बराबर करती रही। उसने उस प्रदेशके प्रमुख समाजोंपर अपना प्रभाव जमाया और राजघरानेके अनेक व्यक्तियों तथा कार्याध्यक्षोंको अपने प्रभावसे प्रभावित किया। इसी तरह तमिलनाडमें भी राजवंशके अनेक सदस्यों तथा राजाओंने जैनधर्मको सोत्साह संरक्षण दिया। और इस तरह जैनधर्म धीरे-धीरे प्रभावशाली होता गया। किन्तु सातवीं शताब्दीसे शैवधर्मके कारण उसे विरोधका सामना करना पडा।

कर्नाटक प्रदेश तो जैनधर्मका घर ही बन गया था। लगभग एक हजार वर्ष तक उसे उस प्रदेशकी जनता तथा राजवंशोंका क्रियात्मक सहयोग मिला। इस सबका श्रेय उन जैन गुरुओंको है जिन्होंने अपनी भद्रता, समुचित विचार दक्षता और लोकसेवाके आधारपर दक्षिण भारतकी जनताको अपने सदुपदेशोंसे अनुप्राणित किया तथा उन प्रदेशोंकी भाषाओंमें दक्षता प्राप्त करके अपनी रचनाओंके द्वारा दक्षिण भारतकी भाषाओंके भण्डारको समृद्ध किया। वस्तुतः दक्षिण भारतको

जैनधर्मकी देन इतनी बहुमूल्य और समृद्ध है कि इस शताब्दीके अनेक विद्वान् लेखकोको उसने अपनी ओर आकृष्ट किया, और उन्होने अपनी खोजपूर्ण रचनाओके द्वारा उन्हें प्रकाशमें लानेका स्तुत्य प्रयत्न किया। उनमें सर्वप्रथम १९२२ में मद्राससे श्रीआयगर और रावकी कृति 'स्टडीज़ इन साउथ इण्डियन जैनिज्म' प्रकाशित हुई। उसके पश्चात् १९३८ में श्री बी० ए० सालेतोरकी 'मिडियावल जैनिज्म' और श्री एस० आर० शर्माकी 'जैनिज़्म एण्ड कर्नाटक कलचर' नामक रचनाएँ प्रकाशित हुई। उसके पश्चात् १९५७ में श्री जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुरसे श्री देसाईकी खोजपूर्ण पुस्तक 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया' प्रकाशित हुई। प्रो० चक्रवर्ती-द्वारा लिखित 'जैन तमिल साहित्य' भी प्रकाशमें आया। इन सब पुस्तकोको पढकर मुझे हिन्दी भाषामें इस प्रकारकी एक पुस्तक-का अभाव बहुत खटका।

उत्तर भारतके जैन इतना तो जानते हैं कि दिगम्बर जैन धर्मके प्रायः सभी महान् आचार्य दक्षिण भारतमें हुए। किन्तु वे भी दक्षिण भारतमें जैनधर्मके प्रभाव और कार्योसे प्राय अपरिचित है। और आज उस प्रदेशमें जैनो और जैनधर्मकी जो स्थिति है उसे देखकर कोई यह अनुमान भी नही कर सकता कि भूतकालमें उनकी स्थिति कभी प्रभावपूर्ण भी रही है।

दक्षिण भारतमे जैनधर्मके विरुद्ध समय-समयपर जो आन्दोलन हुए और उनमें विरोधी पक्ष तथा राजपक्षने जो विरोधात्मक तथा समन्वयात्मक नीतियाँ अपनायी, भारतीय धर्मोके इतिहासके लिए वह भी कम महत्त्वपूर्ण नही हैं। इन विरोधोके प्रतीकारके लिए या विरोधी धर्मोके प्रभाववश जैनधर्मके बाह्यरूपमें जो परिवर्तन करने पडे, वे भी जैनधर्मके इतिहासके अन्वेषक विद्यार्थियोके लिए रोचक और अन्वेषणीय हैं। उदाहरणके लिए ससार-त्यागी जैन गुरुओका यक्षी सस्कृतिसे सम्बन्ध एक ऐसा ही रोचक विषय है। उत्तर भारतके जैन विद्वान् भी ऐसा समझते हैं कि आज दक्षिण भारतमें जैनधर्मका जो व्यावहारिक रूप प्रचलित है वही जैनधर्मका मूल व्यावहारिक रूप था। किन्तु उन्हे भी यह ज्ञात नही है कि इस व्यावहारिक रूपके पीछे जैनोको कितना बलिदान करना पडा है।

इन्ही सब बातोसे प्रेरित होकर मुझे हिन्दी भाषामें सर्वप्रथम इस प्रकारकी पुस्तक लिखनेका उपक्रम करना पडा। यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि मैं स्वय उत्तर भारतीय हूँ और दक्षिण भारतके कुछ स्थानोकी एक बार यात्रा मैंने अवश्य की है, किन्तु दक्षिण भारतके सम्बन्धमें मेरा ज्ञान भी पुस्तकीय ही है। अत मैंने इस पुस्तकमें जो कुछ लिखा है वह सब उक्त पुस्तकोके आधार-पर ही लिखा है, और इसके लिए मैं उक्त सभी लेखकोका कृतज्ञ हूँ।

उत्तर भारतीयोके लिए दक्षिण भारतके ग्रामो, पर्वतो और व्यक्तियोके नामो-के ठीक-ठीक उच्चारणमें कठिनाई होना स्वाभाविक है, क्योकि उस प्रदेशकी भाषासे अभिज्ञता नही है। तमिल सज्ञाएँ तो हम लोगोके लिए और भी दुरूह प्रतीत होती है। अत डॉ० आ० ने० उपाध्येकी सम्मतिके अनुसार रोमन लिपिमें भी सज्ञा शब्दोको दे दिया गया है।

मै डॉ० उपाध्येका विशेष कृतज्ञ हूँ, उन्होंने मेरी पुस्तककी पाण्डुलिपिको आद्योपान्त पढकर उसके सम्बन्धमें अनेक सुझाव देनेका कष्ट किया। मेरी इच्छा थी कि वह इस पुस्तकका प्राक्कथन लिखनेका कष्ट भी उठावें किन्तु उन्होने कार्य व्यस्ततावश इसे स्वीकार नही किया।

कलकत्ताके बाबू छोटेलालजी जैन पुरातत्त्वके प्रेमी विद्वान् थे। दक्षिण भारतके पुरातत्त्वके प्रति उनकी विशेष अभिरुचि और आस्था थी। इस पुस्तकको उन्होंने पढकर भारतीय ज्ञानपीठके मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैनको दे दिया था। उन्हीकी प्रेरणाके फलस्वरूप इसका ज्ञानपीठसे प्रकाशन हुआ। खेद है कि उसके पश्चात् बाबूजीका स्वर्गवास हो गया। उनकी स्मृतिमें अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करके ही मुझे सन्तोष करना पडता है।

भारतीय ज्ञानपीठके मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन तथा व्यवस्थापक डॉ० गोकुलचन्द्र जैनका भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके कारण ही भारतीय ज्ञानपीठसे इस पुस्तकका शीघ्र प्रकाशन हो सका।

स्याद्वाद महाविद्यालय
वाराणसी
वी० नि० स० २४९४

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषय सूची

१. दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्रवेश

उत्तर भारत जैनधर्मकी जन्मभूमि है। भगवान् ऋषभदेवसे लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरोका जन्म और निर्वाण उत्तर भारतमें ही हुआ था, किन्तु उनका विहार दक्षिण भारतमें भी हुआ था। इसलिए दक्षिण भारतमें जैनधर्मके प्रवेशका कोई सुनिश्चित काल नही है। किन्तु भारतीय इतिहासके कतिपय अन्वेषक उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणोके आधारपर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुकी दक्षिण-यात्राके साथ दक्षिणमें जैनधर्मका प्रवेश मानते है।

दाक्षिणात्य अनुश्रुतिके अनुसार, जिसका समर्थन साहित्यिक अभिलेखो और शिलालेखोसे होता है, चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें उत्तर भारतमें बारह वर्षका भयकर दुर्भिक्ष पडनेपर भद्रबाहु श्रुतकेवलीने बारह हजार मुनियोके सघके साथ दक्षिणकी ओर प्रस्थान किया। चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। श्रवणबेळगोळ पहुँचनेपर भद्रबाहुको लगा कि उनका अन्त समय निकट है अत उन्होने सघको आगे चोल, पाण्ड्य आदि प्रदेशोको ओर जानेका आदेश दिया और स्वय श्रवणबेळगोळमें ही एक पहाडीपर, जिसे कलवप्पु या कटवप्र कहते थे, रह गये। अपने शिष्य चन्द्रगुप्तके साथ उन्होने अपना अन्तिम समय वही बिताया और समाधिपूर्वक शरीरको त्यागा।

उक्त आशयका एक शिलालेख उसी पहाडीपर, जिसे आज चन्द्रगिरि कहते है, अकित है और उसका समय ईसाकी छठी-सातवी शताब्दी सुनिश्चित है। श्री लूईस राईसने तथा प्राक्तन विमर्शविचक्षण महामहोपाध्याय आर नरसिंहाचार्यने उसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करके प्रकाश डाला था।[1] लूईस राईसके इस मतका कि चन्द्रगुप्त जैन था और वह दक्षिणकी ओर गया था, [2]थॉमस-जैसे प्रमुख विद्वानोने दृढतासे समर्थन किया था। 'जैनिज्म आर द अर्ली फेथ ऑव अशोक' नामक निबन्धमें उसने कहा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैन था, इस विषयमें विवादकी आवश्यकता नहीं है। मेगास्थनीज भी लिखता है कि वह ब्राह्मणोके सिद्धान्तोको

---

१ लूईस राईस, 'मैसूर ऐण्ड कुर्ग फ्रॉम द इन्सक्रिप्शन्स पृ० ३–१०। नरसिंहाचार्य–'इन्सक्रिप्शन्स ऐट श्रवणबेळगोळ पृ० ३६–४०। स्मिथ–'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' पृ० ७५–७६।

२ 'द जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' १६०१।

नही मानता था और श्रमणोका अनुयायी था। डॉ० फ्लीट और डॉ० वी० ए०[2] स्मिथने भी इस बातको स्वीकार किया था कि चन्द्रगुप्त राज्यको त्याग कर साधु हो गया था और श्रवणबेळगोळमें उसका स्वर्गवास हुआ।

अत परम्परागत अनुश्रुति और प्राप्त अभिलेखोमें कुछ मामूली बातोको लेकर मतभेद होते हुए भी यह एक निर्विवाद[3] सत्य माना जाता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें जैन सघ दक्षिणकी ओर गया था। और इस तरह कुछ विद्वान् ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीमें दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्रवेश मानते हैं। किन्तु प्रकृत विषयका गम्भीरतासे अध्ययन करनेवाले कुछ विद्वानोका मत है कि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तके आगमनसे भी पूर्व दक्षिण भारतमें जैनधर्म वर्तमान होना चाहिए। इसके वे नीचे लिखे कारण बतलाते है—

१. इतने बडे साधु सघको दक्षिणकी ओर ले जानेसे पूर्व भद्रबाहुको अवश्य ही यह विश्वास होना चाहिए था कि उस सुदूर देशमें उनके सघका उचित आतिथ्य होगा, क्योकि जैन साधुओके आहारादिकी विधि ऐसी नही है जिसका निर्वाह जैनधर्मसे अनजान व्यक्ति कर सकता हो। अत इससे प्रकट होता है कि कर्नाटक और तमिलनाडके दक्षिण भागोमें जैनधर्मके अनुयायी पूर्वसे वर्तमान[4] थे।

२. बौद्ध[5] ग्रन्थ महावशकी रचना श्रीलकाके राजा धतुसेण (४६१-४७९ ई०) के समयमें हुई थी। इसमें ५४३ ईसवी पूर्वसे लेकर ३०१ ईसवी सन् तकके कालका वर्णन है। ४३७ ईसवी पूर्वके लगभग पाण्डुगाभय राजाके राज्यकालमें अनुराधापुरमे राजधानी परिवर्तित हुई थी। महावशमे इस नये नगरकी अनेक इमारतोका वर्णन है। उनमें-से एक इमारत निर्ग्रन्थोके लिए थी उसका नाम गिरि था और इसमें बहुत-से निर्ग्रन्थ रहते थे। राजाने निर्ग्रन्थोके लिए एक मन्दिर भी बनवाया था।'

महावशके इस लेखके अनुसार श्रीलकामें ईसा पूर्व ५वी शतीके लगभग जैनधर्म-

---

१ 'एपिग्राफिका इण्डिका' जि० ३, पृ० १७१ और 'इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' जिल्द २१, पृ० १५६।

२. 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया'।

३. 'स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म' पृ० १६ आदि, 'मिडियावल जैनिज्म' पृ० ३–४। 'जैनिज्म ऐण्ड कर्नाटक कल्चर', पृ० ५–६।

४ 'प्रवचनसार'की अँगरेजी प्रस्तावना डॉ० ए० एन० उपाध्ये।

५ 'स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म' पृ० ३२ आदि।

का प्रवेश हुआ होना चाहिए। और उत्तर भारतसे दक्षिण भारतके प्रदेशको अछूता छोडते हुए जैनधर्मका लंकामें प्रवेश होना असम्भव है।

तमिल प्रदेशके प्राचीनतम ब्राह्मी शिलालेख मदुरा और रामनाड जिलेमें प्राप्त हुए हैं जो अशोकके स्तम्भोंपर उत्कीर्ण लिपिमें हैं। अतः उनका काल ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीका अन्त और दूसरी शताब्दीका आरम्भ माना गया है। अभी तक वे पढे नहीं जा सके हैं। सावधानतापूर्वक निरीक्षण करनेपर '[illegible],' 'मदुराई'-जैसे कुछ तमिल शब्द पहचानमें आते हैं। उनके सम्बन्धमें विद्वानोंके दो मत हैं। एकके अनुसार उन शिलालेखोंकी भाषा तमिल है जो अपने प्राचीनतम अविकसित रूपमें वहाँ पायी जाती है। दूसरे मतके अनुसार उनकी भाषा पैशाची प्राकृत है जो पाण्ड्य देशमें प्रचलित रही है। और यह मत उन शिला-लेखोंकी प्राप्ति स्थानसे मेल खाता है। इस दूसरे मतके अनुसार श्री० सी० नारायणरावका कहना है कि ये शिलालेख बौद्ध धर्मसे सम्बद्ध नहीं हो सकते और इसके कारण हैं—

क. यद्यपि यह सम्भव है कि ईसा पूर्व तीसरी शतीसे पूर्व बौद्ध धर्म श्रीलंका और तमिलमें वर्तमान था किन्तु उसने इन देशोंमें न तो शक्ति प्राप्त की थी और न प्रमुखता। एक ओर मौर्य सम्राट् अशोक और दूसरी ओर श्रीलंकाके शासक तिष्यके शक्तिशाली समर्थन और संरक्षणके कारण उस शताब्दीके उत्तर कालमें ही बौद्ध धर्मकी प्रगति हुई थी। इसके विपरीत जैन साधु दक्षिण भारतमें पहलेसे ही अपने धर्म प्रचारमें रत थे। इसका समर्थन ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दीमें श्रीलंकामें जैन धर्मके प्रचारसे भी होता है, जिसका उल्लेख पहले किया गया है। साहित्यिक परम्पराओंसे भी इस बातका समर्थन होता है कि उस कालके गुरुओंके धर्म प्रचारके क्षेत्रसे तमिलनाड बाहर नहीं था।

ख. जिन स्थानोंसे उक्त शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनके निकट जैन मन्दिरोंके भग्नावशेष[2] और जैन तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ पायी जाती हैं। जिनपर सर्पका फण या तीन छत्र अंकित हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीलंका और तमिल प्रदेशमें जैन धर्मके प्रचारका कोई एक सम आधार रहा है। और ईसवी पूर्व चतुर्थ शताब्दीमें जैन धर्मने श्रीलंका और तमिलकी जनताके सामाजिक और धार्मिक जीवनको प्रभावित किया था। इस प्रसंगमें एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि तमिलनाडके

---

१ जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ० २९–३४।

२ इनके विस्तारके लिए देखें 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया' पृ० ३१।

प्राचीनतम ब्राह्मी लेखोंके अक्षर और श्रीलंकाके गुफा-लेखोंके अक्षरोंमें अति समानता पायी जाती है।

ग कुरळ और तोलकाप्पियम् जैसे प्राचीन तमिल ग्रन्थोंमें पाये जानेवाले जैन विचारोंके प्रभावसे विद्वानोंका यह भी मत है कि वैदिक अथवा ब्राह्मण प्रभावसे पूर्व ही तमिल प्रदेश जैन धर्मके प्रभावमें आ चुका था।[1] एक अन्य प्राचीन तमिल ग्रन्थ नालडियार भी किंवदन्तीके अनुसार उन आठ हजार जैन मुनियोंकी संयुक्त रचना है जो पाण्ड्यनरेशकी इच्छाके विरुद्ध पाण्ड्य देशको छोड़कर जा रहे थे।

घ यथार्थमें भगवान् महावीरने स्वयं कलिंग देशमें विहार करके जैन धर्मका प्रचार किया था और कलिंग जैन धर्मका एक प्रमुख केन्द्र था। इसका समर्थन हाथी गुफासे प्राप्त खारवेलके शिलालेखसे भी होता है जो ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दीका है। इस शिलालेखके अनुसार ईसवीपूर्व ४२४ के लगभग मगध सम्राट् नन्द कलिंगको जीतकर वहाँसे प्रथम जिनकी मूर्ति मगध ले गया था। इस मूर्तिको मगधपर चढ़ाई करके खारवेलने पुनः कलिंगमें स्थापित किया। उसीपर-से स्व० काशीप्रसाद जायसवालने लिखा[2] है कि "जैन धर्मका प्रवेश उड़ीसामें शिशु नागवंशी राजा नन्दवर्धनके समयमें हो गया था। खारवेलके समयसे पूर्व भी उदयगिरि पर्वतपर अर्हन्तोंके मन्दिर थे क्योंकि उनका उल्लेख खारवेलके लेखमें आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि खारवेलके समयमें जैन धर्म कई शताब्दियों तक उड़ीसाका राष्ट्रीय धर्म रह चुका था।" कलिंगसे आन्ध्रकी सीमा मिलती है अतः कलिंगसे आन्ध्रमें जैन धर्मका प्रवेश महावीर भगवान्के समयमें ही होना सम्भव है। और वहाँसे तमिल प्रदेशमें उसका प्रवेश हुआ होगा। इसके प्रमाण उत्तर आरकाट जिलेमें जो तेलुगु प्रदेशके निकटवर्ती तमिल प्रदेशके उत्तर भागसे सम्बद्ध है, पाये जानेवाले पाषाणमें उत्कीर्ण शिलालेख और मूर्तियाँ हैं। वहाँसे जैन धर्म तमिल देशके दक्षिण भागमें गया और वहाँसे समुद्र पार करके श्रीलंकामें पहुँचा। यह घटना ईसवीपूर्व पाँचवीं और चौथी शताब्दीमें घटित होनी चाहिए।

जैन गुरुओंका दूसरा स्रोत तमिल देशमें ईसापूर्व तीसरी शताब्दीमें कर्नाटक की ओरसे प्रवाहित हुआ। ये जैन साधु भद्रबाहु स्वामीके शिष्य थे जो विशाखाचार्यके नेतृत्वमें अपने गुरुके अन्तिम आदेशानुसार उनकी भावनाको क्रियात्मक

---

१. जै० सा० इ० पृ० २।
२. 'जर्नल ऑव बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी' जिल्द ३, पृ० ४४८।

रूप देनेके लिए उधर गये थे।

अत इससे यह स्पष्ट है कि भद्रबाहुके साथ ही जैन धर्मका दक्षिण भारतमें प्रवेश नही हुआ। वरन उससे उसके प्रचार और प्रसारमें बल मिला और दक्षिण भारत जैन धर्मका प्रमुख केन्द्र बन गया। अनेक शासकों और राजवंशोके सदस्योने उसे सरक्षण दिया और जनताने उसका समर्थन किया।



२. तमिल प्रदेशमे जैनधर्म

प्राचीनता तथा तत्कालीन स्थिति

दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी स्थितिके दिग्दर्शनका प्रारम्भ हम तमिल प्रदेशसे करना उचित समझते है क्योकि जो शिलालेख आदि प्रकाशित हुए है वे प्राय. दक्षिण भारतके प्रारम्भिक इतिहासकी अपेक्षा मध्यकालीन इतिहाससे सम्बद्ध हैं और दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी पूर्व स्थितिको जाननेके लिए हमें मुख्य रूपसे तमिल साहित्यका ही आश्रय लेना होता है ।

किसी भी देशका साहित्य उसकी जनताके जीवन और आचारका अभिव्यजक होता है । तमिल साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है और उसके सूक्ष्म अध्ययनसे दक्षिण भारतके इतिहासके सम्बन्धमें बहुत सी सूचनाएँ मिलती हैं । अत तमिल साहित्यके आधारसे जैनधर्मकी स्थितिका विवरण आगे दिया जाता है ।

मोटे तौरपर समस्त तमिल साहित्यको तीन कालोमें विभाजित किया जा सकता है — १ सगमकाल, २ शैवनायनार और वैष्णव अलवरोका काल तथा ३. आधुनिक काल । इनमे-से प्रत्येक कालका प्रकाशित साहित्य तमिल राज्योमें जैनोके जीवन और कर्तृत्वपर पर्याप्त प्रकाश डालता है । इनमें-से सर्व प्रथम हम सगम कालको लेते हैं ।

तमिल विद्वानोके अनुसर सगम (सघ) तीन हैं — प्रथम, मध्यम और अन्तिम । इनके काल और इतिहासके सम्बन्धमें मतभेद है । यहाँ प्रयोगके रूपमें अन्तिम सगमका काल ईसाकी दूसरी शताब्दी मान लिया जाता है । किन्तु यह ध्यानमें रखना चाहिए कि जबतक सगम कालका प्रश्न निर्णीत नहीं होता प्राचीन दक्षिण भारतके इतिहासके पुनर्निर्माणमें कोई प्रगति नही हो सकती ।

अन्तिम सगमके ४९ कवियोमे-से एक कवि नच्चिनारक्किनियर [Naccinarkkiniyar] के अनुसार वैयाकरण तोल्काप्पिय प्रथम और द्वितीय सगमका सदस्य था । इस प्राचीन ग्रन्थकारका समय हमें दक्षिणमें जैनधर्मके एक प्रारम्भिक निश्चित स्थान तक पहुँचा सकता है । ऐसा पता चलता है कि द्वितीय सगमकालमे इस प्रदेशकी सीमापर एक बडा सैलाब आया था जिसमें पाण्डय

देशका कुछ भाग डूब गया था। इस घटनाकी अस्पष्ट चर्चा तीसरे संगममें पायी जाती है। शिलप्पदिकारम्में भी उसका उल्लेख है। इन दोनोंसे हम जानते हैं कि पाण्डय देशका जो भाग सैलाबमें डूब गया था वह कुमारी और पहरोली नदियोंके बीचका प्रदेश था। संगम साहित्यके प्रसिद्ध टीकाकार आदियारक्कुनल्लार [Adiyarkkunallar] और नच्चिनार्क्किनियर्के अनुसार समुद्रके इस सैलाबमें ४९ देश, जिनका विस्तार लगभग १४०० मील था, डूब गये थे। किन्तु यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। शिलप्पदिकारम्की टीकामें इस घटनाका उल्लेख अधिक प्रामाणिक मिलता है। उससे पता चलता है कि पहरोली नदी कुमारी नदीके बिल्कुल निकट है। इससे प्रकट है कि समुद्रमें जो प्रदेश डूब गया था वह उतना विस्तृत नहीं था जितना कहा बतलाया गया है। कहा गया है कि पाण्ड्य-नरेशने क्षतिपूर्तिके रूपमें चोल और चेर राज्योंके कुण्डूर और मुट्टुर नामक दो छोटे प्रदेशोंपर जबरदस्ती अधिकार कर लिया था। इसलिए वह निलनतरु तिरुवीर पाण्ड्यके नामसे प्रसिद्ध हुआ। यदि हम उक्त समुद्री सैलाबका समय निर्धारित कर सकें तो हम तोल्काप्पियका समय भी निर्धारित कर सकते हैं। क्योंकि उक्त घटना द्वितीय संगमकालमें घटी थी और तोल्काप्पिय उस संगमका सदस्य था।

टैनेण्ट लिखित श्रीलंकाके इतिहासमें ऐसी तीन घटनाओंका उल्लेख है जिनके कारण उस देशके भूगोलमें परिवर्तन हो गया। उनमें-से दूसरी घटना पाण्डुवासके राज्यकालमें ईसा पूर्व ५०४ में हुई और अन्तिम तीसरी घटना देवानां प्रिय तिष्यके राज्यकालमें ईसापूर्व ३०६ में हुई। इस अन्तिम तीसरी घटनाके आधारपर कुछ विद्वानोंने मोटे तौरपर तोलकाप्पियके समयकी लघु सीमा ईसा पूर्व तीसरी शती निश्चित की है। और कहा है कि महावंश तथा श्रीलंकाकी राजावलीके प्रमाण उक्त मतके समर्थक हैं। यह भी कहा गया है कि होरके ग्रन्थमे, जिसके लिए हम भारतपर आक्रमण करनेवाले यूनानी बादशाह सिकन्दरके साथ आये यूनानी ज्योतिषियोंके ऋणी हैं तोलकाप्पियके निर्देशसे उसका समय ईसा पूर्व तीसरी शती निश्चित होता है। इसके सिवाय इन्द्रके संस्कृत व्याकरणमें[1] तोलकाप्पियका निर्देश है। और इन्द्रका समय ३५० ई० पूर्व है अतः प्राचीनतम वैयाकरण तोलकाप्पियके समयकी उत्तरावधि ३५० ई० पूर्व निश्चित होती है। मदुरा तमिल संगमकी पत्रिका 'सेन तमिल' में (जि० १८, १९१९-२० पृ० ३३९) श्री एस० वैयापुरि पिल्लेका एक लेख प्रकाशित हुआ

१ मैक्डोनल – 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर' पृ० ११।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाते है तब अनेक अतिशय प्रकट होते है जिनमें कुछ देवकृत होते हैं। उन्हींमें-से एक अतिशय इस प्रकार है कि जब भगवान् आप विहार करते हैं तो उनके चरण-स्थलके नीचे देवगण कमलोंको रचित कर देते है। यही बात 'भक्तामर[1] स्तोत्र' में भगवान् ऋषभदेवकी स्तुति करते हुए कही गयी है। अतः 'मलरमिमइ येगिनान' का अर्थ अर्हत्में ही सुघटित होता है।

दूसरे पद 'येनगुनयान'का अर्थ होता है – आठ गुणसहित। यह विशेषण भी जिनका ही हो सकता है। जैन सिद्धान्तके अनुसार परमात्मामें आठ गुण माने गये हैं – अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, सम्यक्त्व, अगुरुलघु, अवगाहना, सूक्ष्मत्व। अत. जिनका यह कहना है कि वल्लुवरने हिन्दू देवताओंका उल्लेख किया है उनके मतसे कैसे सहमत हुआ जा सकता है? कुरलके जैनकर्तृक होनेके सम्बन्धमें एक अन्य भी प्रमाण यहाँ उपस्थित किया जाता है। जैन ग्रन्थ नील-केशीका टीकाकार कुरलको 'एम्मोत्तु' – अपना पूज्य ग्रन्थ बतलाता है। इससे प्रकट है कि जैन लोग वल्लुवरको अपने धर्मका अनुयायी मानते थे।

ऐसी परम्परा प्रचलित है कि जैन साधु एलाचार्य कुरलके रचयिता है। स्व० प्रो० ए० चक्रवर्तीका कहना है कि जैनधर्मके प्रमुख आचार्य कुन्दकुन्द ही एला-चार्य है।[2] और उन्होंने प्रथम शताब्दीके लगभग कुरलकी रचना की थी। तथा अपने शिष्य वल्लुवरके द्वारा उसे मदुरा संघके समक्ष उपस्थित किया था और इसका कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ थीं।

भद्रबाहुकी दक्षिण-यात्रासे यह तो स्पष्ट है कि ईसवी सन्के प्रारम्भ काल तक जैनधर्म दक्षिण भारतमें फैल चुका था, और अब उसका जनतामें विशेष प्रचार करनेके लिए यह आवश्यक था कि उसे उस देशकी ही भाषामें इस ढंगसे निबद्ध किया जाये कि वह केवल जैनोंका ही ग्रन्थ प्रतीत न हो। इस भावनासे तमिलमें कुरल जैसे नीति धर्मविषयक ग्रन्थकी कुन्दकुन्द-जैसे विद्वान्के द्वारा रचना होना और उसी उद्देश्यसे उसे तमिलवासी वल्लुवरके द्वारा उसीकी कृतिके रूपमें उप-स्थित कराना यथार्थ प्रतीत होता है।

कहा जाता है कि वल्लुवर कोई नीच जातिका व्यक्ति था। इसका उत्तर देते हुए श्री रामस्वामी आयंगर[3]ने लिखा है कि तमिल देशकी प्राचीन सामा-

---

१ उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्तिपर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

२ कुन्दकुन्दकृत पंचास्तिकायके अँगरेजी अनुवादकी प्रस्तावनामें।

३ स्ट० सा० इ० जै०, पृ० ४३।

था उसमें उन्होंने लिखा था कि तोलकाप्पिय जैनधर्मानुयायी था और इस सम्बन्ध-में उनकी मुख्य युक्ति यह थी कि तोलकाप्पियके समकालीन पनपारनारने तोलकाप्पियको महान् और प्रख्यात 'पडिमइ' लिखा है। पडिमइ प्राकृत पडिमा शब्दसे बनाया गया है। पडिमा (पतिमा) एक जैन शब्द है जो जैनाचारके नियमोंका सूचक है[2]। श्रीपिल्लेने तोलकाप्पियम्के सूत्रोंका उद्धरण देकर लिखा है कि मरवियल विभागमें घास और वृक्षके समान जीवोंको एकेन्द्रिय, घोंघेके समान जीवोंको दोइन्द्रिय, चींटीके समान जीवोंको तेन्द्रिय, केकडेके समान जीवोंको चौइन्द्रिय और बड़े प्राणियोंके समान जीवोंको पचेन्द्रिय तथा मनुष्यके समान जीवोंको छह इन्द्रिय कहा है। यह जैनसिद्धान्तका ही रूप है। इन्द्रियोंके आधार-पर किया गया जीवोंका यह विभाग अन्य दर्शनोंमें नहीं पाया जाता। अत अत्यन्त पुरातन यह तमिल व्याकरण ग्रन्थ, जो बादके विद्वानों-द्वारा एक प्रामाणिक ग्रन्थके रूपमें माना गया, एक जैन विद्वान्की कृति है।

तमिल साहित्यमें दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है सन्त तिरुवल्लवर रचित 'कुरल'। इसके रचयिताके समय और धर्मको लेकर अनेक मत हैं। उनमें से अधिकाश मत काल्पनिक हैं। यह सर्व-विश्रुत है कि शिलप्पदिकारम्में कुरलका उल्लेख है। शिलप्पदिकारम्के रचयिता इळंगोअडिगल् शेंगोट्टुवन्के भाई थे। और शेंगोट्टुवन्का समय ईसाकी दूसरी शती माना जाता है। कुछ विद्वानोंका मत है कि कुरल मणिमेखलै और शिलप्पदिकारम्से कमसे कम एक शताब्दी पूर्व अर्थात् ईसाकी प्रथम शताब्दीके प्रारम्भमें अवश्य लिखा गया है। यह एक आश्चर्य जनक बात है कि कुरलके रचयिताका, जो एक महान् व्यक्ति था, नाम ज्ञात नही है। तमिलकी साहित्य-परम्परा उसे वल्लुवरकी कृति मानती है। किन्तु यह विश्वास करनेके लिए कि उसका रचयिता जैन था, अनेक पुष्ट प्रमाण हैं। स्व० प्रो०[2] शेषगिरि शास्त्रीने लिखा था कि वल्लुवर अर्हन्तका अनुयायी था।

कुरलमें 'मलरमिसइ येगिनान' और 'येनगुनथान'का उल्लेख रचयिताको जैन प्रमाणित करनेके लिए पर्याप्त है। हिन्दू विद्वान् इन उल्लेखोंको विष्णुके पक्षमें लगाते है। किन्तु जो जैन शास्त्रोंसे परिचित है या जिसने जैन शास्त्रोंका थोडा-सा भी अध्ययन किया है वह श्री शेषगिरि शास्त्रीसे सहमत हुए बिना नहीं रह सकता[3]। 'मलरमिसइ येगिनान'का अर्थ होता है – 'जो कमलपर चलता था', यह भगवान् अर्हत्का बहु प्रसिद्ध अतिशय है। जैनशास्त्रोंके अनुसार जब तीर्थंकर

१ स्ट० सा० इ० जै०, पृ० ३९।
२ देखें, शेषगिरि शास्त्रीका तमिल साहित्यपर निबन्ध, पृ० ४२।
३ स्ट० सा० इ० जै०, पृ० ४१।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाते हैं तब अनेक अतिशय प्रकट होते है जिनमें कुछ देवकृत होते हैं। उन्हींमें-से एक अतिशय इस प्रकार है कि जब भगवान् अर्हत् विहार करते हैं तो उनके चरण-स्थलके नीचे देवगण कमलोंको पवित रच देते हैं। यही बात 'भक्तामर' स्तोत्र' में भगवान् ऋषभदेवकी स्तुति करते हुए कही गयी है। अत 'मलरमियद येगिनान' का अर्थ अर्हत्में ही सुघटित होता है।

दूसरे पद 'येनगुनयान'का अर्थ होता है – आठ गुणसहित। यह विशेषण भी जिनका ही हो सकता है। जैन सिद्धान्तके अनुसार परमात्मामें आठ गुण माने गये हैं – अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, सम्यक्त्व, अगुरुलघु, अवगाहना, सूक्ष्मत्व। अत जिनका यह कहना है कि वल्लुअरने हिन्दू देवताओंका उल्लेख किया है उनके मतसे कैसे सहमत हुआ जा सकता है? कुरलके जैनकर्तृक होनेके सम्बन्धमें एक अन्य भी प्रमाण यहाँ उपस्थित किया जाता है। जैन ग्रन्थ नील-केशीका टीकाकार कुरलको 'एम्मोत्तु' – अपना पूज्य ग्रन्थ बतलाता है। इससे प्रकट है कि जैन लोग वल्लुअरको अपने धर्मका अनुयायी मानते थे।

ऐसी परम्परा प्रचलित है कि जैन साधु एलाचार्य कुरलके रचयिता हैं। स्व० प्रो० ए० चक्रवर्तीका कहना है कि जैनधर्मके प्रमुख आचार्य कुन्दकुन्द ही एला-चार्य हैं।[2] और उन्होंने प्रथम शताब्दीके लगभग कुरलकी रचना की थी। तथा अपने शिष्य वल्लुअरके द्वारा उसे मदुरा सघके समक्ष उपस्थित किया था और इसका कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ थीं।

भद्रबाहुकी दक्षिण-यात्रासे यह तो स्पष्ट है कि ईसवी सन्के प्रारम्भ काल तक जैनधर्म दक्षिण भारतमें फैल चुका था, और अब उसका जनतामें विशेष प्रचार करनेके लिए यह आवश्यक था कि उसे उस देशकी ही भाषामें इस ढगसे निबद्ध किया जाये कि वह केवल जैनोंका ही ग्रन्थ प्रतीत न हो। इस भावनासे तमिलमें कुरल-जैसे नीति धर्मविषयक ग्रन्थकी कुन्दकुन्द-जैसे विद्वान्के द्वारा रचना होना और उसी उद्देश्यसे उसे तमिलवासी वल्लुअरके द्वारा उसीकी कृतिके रूपमें उप-स्थित कराना यथार्थ प्रतीत होता है।

कहा जाता है कि वल्लुअर कोई नीच जातिका व्यक्ति था। इसका उत्तर देते हुए श्री रामस्वामी आयगर[3]ने लिखा है कि तमिल देशकी प्राचीन सामा-

---

१ उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्तिपर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः पद्मानि तत्र विबुधा परिकल्पयन्ति ॥३६॥

२ कुन्दकुन्दकृत पचास्तिकायके अँगरेजी अनुवादकी प्रस्तावनामें।

३ स्ट० सा० इ० जैं०, पृ० ४३।

जिक संस्थाओंके इतिहासको दृष्टिमें रखते हुए क्या यह विश्वास किया जा सकता है कि एक नीच जातिका व्यक्ति कुरल-जैसे काव्यकी रचना करनेके योग्य जन-भाषाका उच्च ज्ञान प्राप्त कर सकता था। क्योंकि कुरलमें केवल दक्षिण भारतीय संस्कृतिके ही सर्वोत्तम तत्त्व संगृहीत नहीं है किन्तु 'कौटिल्यके अर्थशास्त्र'-जैसे ग्रन्थमें पाये जानेवाले उत्तर भारतीय प्रतिभाके जाज्वल्यमान कण भी संगृहीत हैं। अत. जिसका संस्कृत और प्राकृत साहित्यका गम्भीर अध्ययन नहीं है वह कुरल-जैसे ग्रन्थकी रचना नहीं कर सकता और ऐसा व्यक्ति कुन्दकुन्द ही हो सकता है। यदि यह सत्य है तो कहना होगा कि ईसवी सन्के प्रारम्भकालसे पूर्व ही जैनगुरु भारतके एकदम दक्षिणमें पहुँचकर जम गये थे और तमिल देशकी भाषाके द्वारा अपने धर्मको फैलानेमें सन्नद्ध थे। धीरे-धीरे जैन धर्मने द्रविडोंके हृदयको छुआ और उसने दक्षिण भारतके धार्मिक इतिहासमें प्रमुख भाग लिया।

ब्राह्मणोंके विरोधके होते हुए भी जैनोंने दक्षिणकी भाषाओंको प्रोत्साहन दिया और दक्षिणको जनतामें आर्य विचारोंका प्रचार किया। उससे द्रविड साहित्य पनपा। इसीसे भारतके साहित्यिक इतिहासपर विचार करते हुए मि० फ्रेजरको[1] लिखना पड़ा है कि जैनोंकी क्रियाशीलताके कारण ही दक्षिण नये विचारों और साहित्यसे, जो नये रूपों और भावोंसे समृद्ध है, लाभान्वित हुआ है।'

कुरलके तत्काल बादका समय प्राचीन तमिल साहित्यकी समृद्धिका समय है जिसका निर्माण मुख्य रूपसे जैनोंके संरक्षणमें हुआ है। इस कालको तमिल साहित्यका उच्चतम काल कहते हैं। यह काल बौद्धिक दृष्टिसे जैनोंके प्राबल्यका काल है, [2]राजनैतिक दृष्टिसे नहीं। इसी कालके अन्तर्गत ईसाकी दूसरी शताब्दीमें तमिलका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिलप्पदिकारम्' रचा गया। इसका रचयिता ल्लगोवा-डिगल था। वह चेर राजकुमार शेंगोट्टुवनका भाई था और सम्भवतया जैन धर्म-का अनुयायी भी। शिलप्पदिकारम् तथा मणिमेखलैमें तत्कालीन द्रविड संस्कृति-का स्पष्ट चित्र देखा जा सकता है। उस समय वहाँ पूर्ण धार्मिक सहनशीलता थी और जैनधर्मका प्रवेश राजघरानों तकमें हो चुका था।

धर्म-परिवर्तनसे सामाजिक और कौटुम्बिक बन्धन अस्तव्यस्त नहीं होते थे। उदाहरणके लिए शिलप्पदिकारम्का रचयिता ल्लगोवाडिगल जैन था और उसका भाई शेंगोट्टुवन शैव था।

---

१. दी जरनल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, जि० २२, पृ० २४६।

२ वी० ए० स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया (१९१४) पृ० ४४५। तथा 'जर्नल ऑव दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी, (१८८६ जि०, पृ० २४२) में डॉ० पोपका लेख।

इस ¹काव्यमें वर्णित जैन आचार-विचारोंसे तथा जैन विद्याकेन्द्रोंके उल्लेखाउ पाठकके मनपर निस्सन्देह यह प्रभाव पडता है कि द्रविडोंका बहुभाग जैन धर्मको अपनाये हुए था और उनकी सख्या बराबर बढ रही थी। आगे हम शिलप्पदिकारम् और मणिमेखलैके आधारसे सगमकालमे जैनोंकी स्थितिका परीक्षण करेंगे।

ईसाकी दूसरी शताब्दीके पूर्व भागमें दक्षिण भारतमें फैले हुए जैन धर्म और बौद्ध धर्मके विस्तारका विवरण जाननेके लिए उक्त दोनो तमिल महाकाव्य बहुमूल्य है। उनसे ज्ञात होता है कि चोल तथा पाण्डय नरेशोंके द्वारा उक्त दोनो धर्मोंको सरक्षण प्राप्त था। निर्ग्रन्थ साधारणतया ग्रामोंके बाहर बसतिकाओंमें रहते थे। उन बसतिकाओंकी दीवारें बहुत ऊँची होती थी और लाल रगसे चित्रित होती थी। उनके चारो ओर उद्यान होते थे। जैनोंके मन्दिर प्राय ऐसे स्थानोपर होते थे जहाँ दो या तीन मार्ग आकर मिलते थे। वहाँ व्याख्यानके लिए मच बने होते थे और उनसे जैन धर्मके सिद्धान्तोंका उपदेश दिया जाता था। साधुओंके निवास-स्थानोंके साथ आर्यिकाओंके लिए भी निवास-स्थान होते थे। जिससे प्रकट होता है कि तमिलकी स्त्रियोंपर भी जैन आर्यिकाओंका बडा प्रभाव था। चोलोंकी राजधानी कावेरीपट्टनम्में तथा कावेरीके तटपर स्थित उरैयूरमें जैन वसतिकाएँ थीं। तथापि जैन धर्मका मुख्य केन्द्र मदुरा था। मदुरा पाण्डयराज्यकी राजधानी थी।

शिलप्पदिकारम्की कथा चोलराज्यके एक प्रमुख नगर पुहारसे प्रारम्भ होती है। कथाका नायक कोवलन वहाँका निवासी था। दुर्व्यसनोंमें अपनी सम्पत्ति नष्ट करके वह अपनी पत्नीके साथ पुहार छोडकर मदुराकी ओर जाता है। मार्गमें वे एक पवित्र पूजास्थानपर पहुँचते हैं। उसका वर्णन कविने इस प्रकार किया है—"उन्होने एक शिलातलकी प्रदक्षिणा की। वह शिलातल अर्हत्का मन्दिर था। जैनोने उसका निर्माण किया था। एक ऊँचे चबूतरेपर एक अशोकवृक्ष स्थित था। बरसातके दिनोंमें उसकी शीतल छायामें चारण आकर ठहरते थे। उनका उपदेश श्रवण करनेके लिए लोग एकत्र हो जाते थे और वे सौगन्धपूर्वक मास खानेका त्याग करते थे, सत्य बोलनेकी प्रतिज्ञा लेते थे और सत्यमार्गको समझकर इन्द्रियदमनके द्वारा अपनेको समस्त पापोसे मुक्त करते थे।" ²

यह शिलातल एक धार्मिक सस्था होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत मन्दिर और मठ दोनो सम्मिलित थे और उसमें चारण साधु आकर ठहरते थे। वहाँसे वे जनतामें उपदेश देनेके लिए देशमें भ्रमण करते थे। शिलप्पदिकारम्में शिला-

---

१. स्ट० सा० इ० जै०, पृ० ४६-४७।

२. जै० सा० इ०, पृ० ८७।

तलका उल्लेख बार-बार आता है।

कोवलन और उसकी पत्नी कण्णकी पुहारसे चलते हुए थोड़ी दूरपर जैन साध्वी कौन्तीके निवास स्थानपर पहुँचते हैं जो कावेरी नदीके तटपर स्थित था। इस वासस्थानको श्रीकोइलका भाग बतलाया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीकोइल कोई एक बड़ा जैन मन्दिर था और उसमें मुनि और आर्यिकाओंके लिए वसतिकाएँ थी।

चोल राजाओंकी एक अन्य राजधानी उरैयूर भी जैनधर्मका केन्द्र था। इस स्थानपर पहुँचकर कौन्तीने जैन मन्दिरमें प्रार्थना की जिसका वर्णन इस प्रकार किया गया है – 'फूलोंसे लदे हुए अशोक वृक्षकी घनी छायाके नीचे कौन्तीने सर्वप्रथम देव अरिवन[1] की पूजा की। वह देव सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी था, तीन चन्द्रमाओंकी तरह एकके ऊपर एकके क्रमसे स्थापित तीन छत्र उसके सिरके ऊपर शोभित थे। उसके पश्चात् कौन्तीने अरगमके पार्श्ववर्ती विस्तृत उद्यानमें कन्दन पल्लीके सब साधुओंके प्रति चारणोंके द्वारा उच्चारित उत्तम शब्दोंको विनयपूर्वक कहा।'

जैनधर्मका केन्द्र होनेके कारण सम्भवतया मदुरा बहुत प्रसिद्ध था तथा महान् जैन सन्तों और अनेक धार्मिक स्थानोंकी अवस्थितिके कारण बहुत पवित्र माना जाता था। कौन्ती विनयी कण्णकीके प्रति दयाभावसे प्रेरित होकर, और तमिल देशकी निर्दोष नगरी मदुराको देखनेकी उत्कण्ठासे तथा अरिवनकी पूजा और पापमुक्त सन्तोंके उपदेशोंको सुननेकी इच्छासे कोवलन और कण्णकीके साथ ही आयी थी।

उरैयूरमें उन्हे एक ब्राह्मण मिला और उसने मदुराका मार्ग बतानेके बहानेसे मदुराके पास एक पहाड़ीपर स्थित विष्णु देवताकी प्रशंसा करते हुए अपने धर्मका उपदेश दिया। उसे सुनकर कौन्ती बोली – "हे वेदोंमें प्रवीण ब्राह्मण! अपना काम करो। हमें विष्णुके मन्दिरमे नही जाना है। इन्द्रके द्वारा दिया गया ज्ञान हमारे धर्मग्रन्थोंमें भी मिल सकता है। यदि तुम पूर्व जन्मके कर्मोंको जानना चाहते हो तो उनके लिए तुम इस वर्तमान जन्मको क्यों नही देखते। जो सत्य और अहिंसाका पालन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते है, क्या संसारमे कोई ऐसी वस्तु है जो उन्हें प्राप्त नही हो सकती? हमे जो मार्ग अच्छा प्रतीत होता है हम उसपर चलते हैं। तुम्हें जो अच्छा लगे तुम उसपर चलो।"

कौन्ती शिलप्पदिकारम्‌की एक प्रमुख पात्र है। वह जैन साध्वी है और जैनधर्मकी पक्की अनुयायी है। जिनदेव और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंमें

१. अरिवनका अर्थ सर्वज्ञ होता है – जै० सा० इ०, पृ० ८७।

उसकी आस्था बडी गम्भीर है। एक स्थानपर वह कहती है –

"जिसने राग, द्वेष और मोहको जीत लिया है, मेरे कान उसके अतिरिक्त अन्य किसीका भी उपदेश नहीं सुनना चाहते। मेरी जिह्वा कामजेता भगवान्‌के १००८ नामोंके सिवा अन्य कुछ भी कहना नहीं चाहती। मेरी आँखें उस स्वयम्भूके चरण युगलके सिवा अन्य कुछ देखना नहीं चाहतीं। मेरे दोनों हाथ अर्हन्तके सिवा किसी अन्यके अभिवादनमें कभी नहीं जुड़ सकते। मेरा मस्तक फूलोंके ऊपर चलनेवाले अर्हन्तके सिवा अन्य कोई फूल धारण नहीं कर सकता। मेरा मन भगवान् अर्हन्तके वचनोंके सिवा अन्य किसीमें भी नहीं रमता।"

शिलप्पदिकारम्‌के रचयिताके धर्मके विषयमें मतभेद है, कुछ उसे जैन कहते है और कुछ उसे ब्राह्मण धर्मका अनुयायी मानते है। क्योंकि उसने अपने काव्यमें तमिल देशमें फैली हुई विविध सस्कृतियोंका और धर्मोंका चित्रण किया है। किन्तु उसका पक्षपात जैनधर्मकी ओर ही है जो समस्त काव्यमें छाया हुआ है। उसमें जिनकी ओर उनके अहिंसा आदि सिद्धान्तोंकी खूब विवेचना की है। किन्तु उसका दृष्टिकोण उदार था इसलिए उसकी शैली ऐसी है कि उस परसे अपर पक्षको ऐसा प्रतीत होता है कि शायद वह ब्राह्मण धर्मका अनुयायी है। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है।

जब कौन्तीके साथ कोवलन और कण्णकी आरगम् या श्रारगम् पहुँचते है तो चारण उन्हें उपदेश देते है। उसमें वह जिनको ईशान, शकर, शिवगति, स्वयम्भू, चतुर्मुख आदि कहते है। किन्तु यहाँ इन विशेषणोंका वही अर्थ नहीं है जो लोकमे प्रचलित है। इस तरहके प्रयोग अन्यत्र भी जैनसाहित्यमें मिलते हैं किन्तु उनका अर्थ भिन्न होता है। जैसे भक्तामरस्तोत्र नामक जैन स्तवनमे ऋषभदेवको विद्वानोंसे पूजित होनेके कारण बुद्ध, तीनो लोकोमें शान्तिके कर्ता होनेसे शकर, मोक्षमार्गके विधाता होनेसे ब्रह्मा और पुरुषोंमें श्रेष्ठ होनेसे पुरुषोत्तम (विष्णु) कहा है। सम्भवतया उन-उन देवताओके भक्तोंको आकृष्ट करनेके लिए ही यह पद्धति प्रचलित हुई जान पडती है तथा इससे धार्मिक सहिष्णुताका भाव भी प्रकट होता है। शिलप्पदिकारम्‌से प्रकट होता है कि वह समय परिपूर्ण धार्मिक सहिष्णुताका समय था। विभिन्न धर्मावलम्बियोंमें होनेवाली चर्चाओंमें भी सद्व्यवहार बरता जाता था। इसका एक उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है।

अत उस प्राचीन समयमे यदि तमिल प्रदेशके पश्चिमीय भागके एक राजपुत्रने प्रभावित होकर जैनधर्मको धारण कर लिया हो तो यह कोई इतिहास-विरुद्ध बात नही है। क्योकि शिलप्पदिकारम्‌मे ऐसी अनेक बातें है जिनसे उसके रचयिताकी जैनधर्ममें आस्था प्रमाणित होती है। तथा इस बातके प्रमाण

है कि अतिप्राचीन ऐतिहासिक कालमें दक्षिण भारतके सुदूर प्रदेशोमें जैन धर्म फैला हुआ था। श्री रामस्वामी आयगर[1] ने उस समय जैन धर्मके इतने लोकप्रिय होनेके कुछ कारण इस प्रकार बतलाये है तमिलोसे पूर्व उस प्रदेशपर नाग-जातिका शासन था और द्रविड उसी नागजातिके अवशेप थे। तमिलोने नागोसे उनकी पूजाविधिके कुछ तत्त्व ग्रहण किये थे जो जैनधर्ममें भी पाये जाते हैं। उस समय तक बुद्धकी पूजाका प्रचलन नहीं हुआ था, क्योंकि मणिमेखलैमें बुद्धकी मूर्तिका कोई निर्देश नही है। केवल बुद्धके चरणोकी पूजाका उल्लेख है। और आर्य तथा आर्येतर देवताओंकी मूर्तिको पूजनेके अभ्यस्त मनुष्योके लिए मात्र चरणोकी पूजा करना एकदम अव्यावहारिक है। इन कारणोमें जैन पूजा-विधिकी आपेक्षिक सादगी और ब्राह्मण पूजा-विधिकी आडम्बरपूर्णताको भी जोडा जा सकता है। इन कारणोने ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्मकी अपेक्षा निर्ग्रन्थोके धर्मको विशेष लोकप्रियता प्रदान की। वैसे जैन समाजके पीछे एक पूर्ण सगठन भी था और यही कारण रहे कि जैनधर्म केवल लोकप्रिय ही नही हुआ बल्कि उसकी जडें उस भूमिमे गहराई तक पहुँची थी। उक्त काव्यसे यह भी ज्ञात होता है कि समस्त जैन सम्प्रदाय दो भागोमें विभाजित था: श्रावक या गृहस्थ और मुनि। स्त्रियाँ भी गृह त्याग कर साध्वी बन सकती थी, किन्तु स्त्री और पुरुष दोनो हीके लिए साधु-जीवनमें पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक था।

अब हम मणिमेखलैमें चित्रित निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके कुछ उद्धरण देकर इस चर्चाको समाप्त करेंगे।

मणिमेखलै एक बौद्ध ग्रन्थ है और उसका रचयिता शीत्तलैनपातिनार एक पक्का बौद्धधर्मावलम्बी था। अत. उसके हाथसे जैनधर्मका यथार्थ चित्रण किये जानेकी कोई आशा नहीं कर सकता। किन्तु शिक्षित जैनोकी भी यह सम्मति है कि धर्मास्तिकायको छोडकर जैनधर्मको अन्य सब बातोका उसने ठीक चित्रण किया है।

मणिमेखलैमे वर्णित जैनधर्म

मणिमेखलैने निर्ग्रन्थ (जैनसाधु) से पूछा – आपका भगवान् कौन है और उसने अपनी धर्म पुस्तकमें क्या उपदेश दिया है? वस्तु कैसे उत्पन्न होती और नष्ट होती है?

निर्ग्रन्थने उत्तर दिया – मेरे भगवान्को इन्द्र भी पूजते हैं। उसके द्वारा उपदिष्ट आगममें आगे लिखी बातोका उपदेश है – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय,

---

१. स्ट० सा० इ० जै०, पृ० ४८-४९।

काल, आकाश, जीव, पुद्गल, पुण्य कर्म, पाप कर्म, पुण्य तथा पाप कर्मके द्वारा होनेवाला कर्मबन्धन और उन कर्मबन्धनसे छूटनेका मार्ग। वस्तु स्वभावसे ही उत्पाद-विनाशशील है। उनमें प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भाव होता रहता है। नीमका वृक्ष उगता है और बढ़ता है। किन्तु उसके गुण अनित्य नहीं हैं। जब हम हरे चनोंसे मिठाई बनाते हैं तो उसके गुण नष्ट नहीं हो जाते, केवल आकृति बदल जाती है। धर्मास्तिकाय सर्वत्र व्याप्त है और सब वस्तुओं-को सदा चलाया करता है। अधर्मास्तिकाय सबको स्थिर रखता है। कालको क्षणोंमें विभाजित किया जा सकता है। आकाश सबको स्थान देता है। जीव शरीरमें प्रवेश करके पांच इन्द्रियोंके द्वारा स्वाद लेता है, सूंघता है, छूता है, सुनता है और देखता है। पुद्गलके परमाणु शरीररूप या अन्य रूप हो सकते हैं। अच्छे और बुरे कर्मोंकी उत्पत्तिको रोकनेके लिए, पूर्व कर्मोंको भोगनेके लिए और सब प्रकारके कर्मबन्धनको काटनेके लिए मुक्ति है।

तमिल[1] प्रदेशमें जैनधर्मके इतिहासके लिए ईसाकी तीसरी और चौथी शताब्दी एकदम शून्य है। केवल ब्राह्मणेतर साहित्यमें ही थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है। संगम कालके ब्राह्मण तथा अन्य हिन्दू कवियोंने तो जैनोंके अस्तित्व तककी उपेक्षा की है। जैसे उत्तर भारतके इतिहासकारोंने सिकन्दरके आक्रमणकी कोई चर्चा नहीं की वैसे ही दक्षिणके ब्राह्मण साहित्यमें भी जैनोंके इतिहास और उनकी गतिविधिकी कोई चर्चा नहीं मिलती। किन्तु उसके बादके इतिहासपर, खास करके सातवीं-आठवीं शताब्दीमें जैनधर्मके विकासपर, थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ता है। किन्तु ईसाकी दूसरी शताब्दी जैन इतिहासकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस शताब्दीमें जैनधर्मका खूब प्रचार हुआ। इसका कारण कुन्दकुन्द जैसे महान् जैनाचार्योंका प्रादुर्भाव तथा कर्नाटकमें गंगोंका राज्य था। गंगवंशने गंगवाडीपर दूसरी शतीसे लेकर ग्यारहवीं शती तक लगभग नौ सौ वर्ष राज्य किया। वह वंश जैनधर्मका महान् संरक्षक था। उसका तमिल प्रदेशमें जैनधर्मके प्रसारमें अवश्य ही साहाय्य होना चाहिए।

यथार्थमें उस प्रदेशकी धार्मिक स्थितिका गम्भीर अध्ययन करनेसे प्रकट होता है कि दूसरी शतीसे लेकर सातवीं शतीके प्रारम्भ काल तक जैनधर्म एक प्रमुख धर्म था। हम यहाँ संक्षेपमें उसके विकासका चित्रण करेंगे।

जब ब्राह्मण साहित्यकारोंने जैन धर्मकी एकदम उपेक्षा कर दी और चौथी तथा पाँचवीं शताब्दीके लगभग विरोधका भाव बढ़ता गया तो जैनोंने अपने एक

---

१ स्ट० सा० इ० जै०, पृ० ५१-५२।

पृथक् सगमकी स्थापना की। दिगम्बर जैन ग्रन्थ, 'दर्शनसार' (वि० स० ९९०) में लिखा है कि विक्रम संवत् ५२६ (४७० ई०) में दक्षिण मथुरामे पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीने द्रविण सघकी स्थापना की। पाण्डच राजाओका सरक्षण प्राप्त हुए बिना इस प्रकारका पृथक् सगम स्थापित करना उस समय सम्भव नही था। किन्तु पाँचवी शताब्दीमें जैनोका यह सगम स्थापित हुआ और छठी शताब्दीका प्रारम्भ होते ही तमिलका भाग्य-सूत्र परिवर्तित हो गया। कलभ्रोने आक्रमण करके पाण्डच राज्यको हथिया लिया।

श्री राम स्वामी आयगरने लिखा है[1] पाण्डच और पल्लव राजाओके शिलालेखोमें कलभ्रोका निर्देश बहुतायतसे पाया जाता है। उन्हें तमिलके चोल, चेर और पाण्डच राजाओका विजेता कहा है। चूँकि उनका निर्देश दक्षिण भारतसे बाहरके किसी शिलालेखादिमें नही पाया जाता, इसलिए उनका मूलतः द्रविण होना सम्भव है। इस बातमे कोई प्रमाण नही है कि वे आर्य थे। उन्ही कलभ्रोका निर्देश वेल्विकुडी दानपत्रमें पाया जाता है। उसमें लिखा है कि उन्होने पाण्डच देशको जीता और कुछ समय तक उसपर शासन किया। कडुन-गूनने उन्हें हराकर पुन उस देशपर अधिकार कर लिया। 'पेरिय पुराणम्'में मूर्ति नायनारके विवरण से ज्ञात होता है कि नायनारके समयमें एक शक्तिशाली कर्नाटक सेनाने देशपर आक्रमण किया और पाण्डच राजको हराकर अपना शासन स्थापित किया। इन दोनो उल्लेखो तथा अन्य प्रमाणोके आधारसे श्री आयगरने 'पेरिय पुराणम्' के कर्नाटक राजाको कलभ्र प्रमाणित किया है और आगे लिखा है कि 'पेरिय पुराण'के अनुसार कलभ्रोने जैन धर्मको अपनाया और जैनोसे, जिनकी सख्या अगण्य थी, बडे प्रभावित हुए। उन्होने शैवोको सताना और शैव देवताओकी अवहेलना करना शुरू किया। कहा जाता है कि तमिल प्रदेशमें जैन धर्मको और भी अधिक दृढतासे स्थापित करनेके लिए जैनोंने स्वय कलभ्रोको आमन्त्रित किया था। अत कलभ्रोका तथा उनके बादके समयको जैनोकी शक्ति-सम्पन्नताका मध्याह्नकाल कहा जाता है। इसी समयमें जैनोने प्रसिद्ध 'नालदियार' ग्रन्थकी रचना की। 'नालदियार' में [2]मुट्टरय्यरके दो

---

१ स्ट० ला० इ० जैन, पृ० ५३।

२ श्री आयगरने लिखा है कि मुट्टरय्यरके सम्बन्धमें जानकारी देनेवाली पुस्तक नष्ट हो गयी है। और टिप्पणमें लिखा है कि क्या वेल्विकुडी दानपत्रके कलभ्रही इन मुट्टरय्यरोंके वशज है? त्रिचनापल्ली जिलेमें आज भी मुट्टरय्यर वर्तमान हैं। आन्ध्रमें उन्हें मुटटु रजक्कल कहते हैं। मदुरा जिलेके मेलूर ताल्लुकेके मुट्टरय्यर अम्बल कारन कहे जाते हैं। उनकी जाति कलार है। खोजके लिए यह विषय बड़ा

उल्लेख है, जिनमें बतलाया गया है कि कलभ्र जैन है और तमिल साहित्यके संरक्षक है।

'नालडियार' और जैन

'नालडियार'में चारसौ चतुष्पदी पद्य है जिनमें धार्मिक और प्रबोधक उपदेश हैं। परम्पराके अनुसार प्रत्येक पद्य एक एक जैन मुनिकी रचना है। डॉ० पोपने इसे 'वेल्लालर वेदम्' नाम दिया है, जिसका अर्थ होता है — किसानोंकी धर्म पुस्तक। इसमें कथित उक्तियाँ प्राय संस्कृत भाषासे ली गयी है और समस्त दक्षिण भारतके परिवारोंमें प्रचलित है।

श्री आयगरने लिखा है कि जब हम मदुरामें जैन संगमकी स्थापना और 'नालडियार'को रचनामें संस्कृत उक्तियोंका बहुतायतसे उपयोग — इन दो तथ्योंपर संयुक्त रूपसे विचार करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि 'नालडियार'की रचना संगमकी स्थापनाके पश्चात् हुई है तथा इसकी रचनाके समयमें जैन और ब्राह्मण सम्प्रदायोंका पारस्परिक विरोध दिनपर दिन गम्भीर होता जाता था। २४३वें पद्यमें इस विरोधका स्पष्ट चित्रण है। और वह समय कलभ्रोंके संक्रान्तिकालका समय था।

इस प्रकार संगमकालीन तमिल साहित्यसे तमिल राज्योंमें जैन धर्मके इतिहास तथा जीवनके सम्बन्धमें नीचे लिखे तथ्य प्रकाशमें आते हैं —

१ तोलकाप्पियके समयमें, जो अवश्य ही ईसवी पूर्व ३५० से पहले रचा गया था, सम्भवत भारतके एकदम दक्षिण प्रदेश तक जैनोंका प्रवेश नहीं हुआ था।

२ ईसाकी प्रथम शताब्दीसे पूर्व वे अवश्य ही भारतके एकदम दक्षिण तक प्रवेश करके वहाँ बस गये थे और स्थायी रूपसे निवास करने लगे थे।

३ जिसे तमिल साहित्यका उच्चतम काल कहा जाता है वह जैनोंकी भी प्रधानताका काल था।

४ ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके पश्चात् जैन धर्म इतना प्रभावशाली और शक्तिशाली हो गया कि वह कुछ पाण्ड्य राजाओंका राजधर्म बन गया।

उत्तम है। यह उल्लेखनीय है कि संगम-साहित्यमें वेंगडम्के प्रधान पल्लीको कलवरकोमन [चोरोंका राजा] कहा है। वही पृ० ५६।

शैवो और वैष्णवोका काल : जैन धर्मका पतन

ईसाकी छठी शताब्दीमे जो काल प्रारम्भ होता है उसे ब्राह्मण धर्मके उत्थानका और जैन धर्मके पतनका काल कहा जा सकता है। बौद्ध धर्म तो दक्षिण भारतसे विदा ही हो गया किन्तु जैसा कि हम लिख आये हैं, जैन धर्म अपनी शक्तिसे सम्पन्न था और वह तमिल प्रदेशमें बहुत समय तक बना रहा।

श्री रामस्वामी आयंगरके अनुसार जैन धर्मकी कोमल शिक्षाओको बहुत कठोर बना दिया गया और उन्हें दैनिक जीवनसे सम्बद्ध कर दिया गया। जैनोंकी पृथक्तावादी नीतिने और परिस्थितिके अनुसार बरतनेकी कमीने उन्हें घृणा और उपहासका पात्र बना दिया और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आ गयी कि वे केवल राजकीय सरक्षणकी सहायतासे ही अपना प्रभाव कायम रख सके। तमिलवासी बहुत अधिक समय तक दृढ विश्वासके साथ जैन धर्मको नहीं अपना सके। हठधर्मी जैन राजाओकी आज्ञा पालन करनेमें तत्पर राजकीय कर्मचारियोका शक्ति प्रदर्शन भी इसका कारण हुआ।

किसी धर्मकी शक्ति और अभ्युन्नति उसे राजासे प्राप्त साहाय्यपर भी निर्भर होती है। जब वे उस धर्मको सरक्षण देना बन्द कर देते हैं या उसके विरोधी धर्मको स्वीकार कर लेते हैं तो उस धर्मके माननेवालोकी सख्यामें भी ह्रास हो जाता है। इसलिए ब्राह्मण धर्मके अनुयायी यदि उत्सुकताके साथ उस दिनकी प्रतीक्षामें हों जब उनके धार्मिक नेता राजाओको अपने धर्मकी ओर आकृष्ट करनेमें और निर्ग्रन्थोको तमिल देशसे भगानेमें समर्थ होंगे तो कोई आश्चर्य नहीं है।

दक्षिण भारतमें शैव मन्दिरोकी सख्या बढ जानेपर तमिलमें शैव धर्मका एक ऐसा साहित्य रचा गया जिसमें विभिन्न मन्दिरोकी प्रशसा थी। उसमें शिवको सब देवताओमें महान् बतलाया गया था। राजराज चोल (९८४-१०१३ ई०) के समय तक यह शैव साहित्य इतना अधिक हो गया कि उसे एकत्र करके सुव्यवस्थित करना आवश्यक समझा गया। इस महत्त्वपूर्ण कार्यका भार दक्षिण आरकाट जिलेके तिरुनरयूरके आदि शैव ब्राह्मण नम्बिआन्दार नम्बी (९७५-१०३५) को सौंपा गया। उसने समस्त शैव ग्रन्थोका ग्यारह जिल्दोमें सम्पादन किया। बादको अम्बय चोल (११५० ई०) के राज्यकालमें शैव सन्तोके सम्बन्धमें प्रचलित किंवदन्तियोको सकलित किया गया और उनको लेकर पल्लव देशके एक वल्लाल कवि सेक्किळरने पेरियपुराणम्की रचना की। बादको शैव नायनारोकी यह किंवदन्तीमूलक जीवनकथा शैव धर्मके साहित्यमें बारहवें तिरुमुरई या

सीरीजके रूपमें सम्मिलित की गयी। सेक्किळारके पेरियपुराणम् और नम्बि-यान्दार नम्बीका उक्त संकलन इन दो ग्रन्थोंमें जैनोंका उस कालका विवरण जाना जा सकता है जिसे शैव नायनार और वैष्णव आळ्वारोंका समय कहा जाता है। शैव धर्मके साहित्यमें जो जानकारी प्राप्त होती है, वैष्णव प्रबन्धम्से उसमें थोडी वृद्धि हो जाती है। ऐतिहासिक दृष्टिसे शैव सन्तोंकी जीवन-कथाका कोई मूल्य नहीं है क्योंकि उसमें किसी भी नायनारका समय नहीं दिया है। और किंवदन्तियोंके आधारपर निर्मित होनेसे पेरियपुराणम् काल्पनिक चमत्कारी घटनाओंसे भरपूर है जिन्हें इतिहासका कोई आधुनिक अभ्यासी स्वीकार नहीं कर सकता। तथापि दक्षिण भारतके धार्मिक इतिहासके विविध युगोंको खोजनेमें थोडी-सी भी कठिनाई उससे नहीं होती।

पेरियपुराणम्में ६३ सन्तोंकी जीवनियाँ हैं। उनमें-से अप्पर, सिरुत्तोण्डर और तिरुज्ञान सम्बन्दरके नाम महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि केवल उनमें ही जैनोंके सम्बन्धमें कुछ जानकारी मिलती है। इन तीनोंमें-से भी सम्बन्दर विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसके समयमें जैन धर्मको ऐसा घातक धक्का लगा जिससे फिर वह उठ नहीं सका।

सम्बन्दर और उसका कार्य

तंजोर जिलेके शियाली ग्राममें एक ब्राह्मण पुरोहितके घरमें सम्बन्दरका जन्म हुआ था। तीन वर्षकी अवस्थासे ही वह शिवकी भक्तिमें भजन गाया करता था। वेद वेदांगमें पारंगत और तमिलका भी वह अद्वितीय विद्वान् था। उसे ब्राह्मणत्वका बडा अभिमान था। उसके जीवनका एक प्रधान उद्देश्य जैन धर्म और बौद्ध धर्म-जैसे नास्तिक धर्मोंको दबाना था। अपने भक्तों और प्रशंसकोंके बडे समूहके साथ वह तमिल देशमें भ्रमण करता रहता था और शैव धर्मके लिए जनतामें असीम उत्साह पैदा करता था। उसके उत्तेजक गीतोंका प्रत्येक दसवाँ पद्य जैनोंके लिए अभिशाप कारक होता था। यहाँ हम उसके जीवनके विविध प्रसंगोंको न देकर उन कार्यकलापोंको बतलाना चाहते हैं जिनके कारण मदुरा प्रदेशमें इतनी दृढताके साथ फैला हुआ जैन धर्म वहाँसे निर्वासित हो गया।

उस समय पाण्ड्य राज्यका शासक सुन्दर पाण्ड्य था, जो पक्का जैन था। उसकी पत्नी चोलराजकी कन्या थी और वह शिवकी भक्त थी। पाण्ड्य नरेश-का मन्त्री कुलच्चिरई भी, जिसने अपने समयके धार्मिक इतिहासमें प्रमुख भाग लिया, शिव भक्त था। इन दोनोंने राजा सुन्दर पाण्ड्यको अपने धर्ममें दीक्षित करके उस देशमें शैव धर्मकी स्थापना करनेके विचारसे सम्बन्दरको मदुरामें लाने

का प्रबन्ध किया। सम्बन्दरने तत्काल निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। सम्बन्दरका मदुरामें पदार्पण जिस उद्देशसे और जिस स्थितिमें हुआ वह सब ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें माना जाता है।

पेरियपुराणम्के अनुसार जिस मकानमें सम्बन्दर अपने ब्राह्मण भक्तोंके साथ ठहरा हुआ था उसमे जैनोने आग लगानेकी योजना बनायी लेकिन योजना प्रकट हो गयी और खतरा टल गया। राजा अचानक बीमार भी हो गया। और जब उसके जैन सलाहकारोंसे उसे नीरोग करनेके लिए कहा गया तो वे राजाको स्वस्थ नही कर सके। तब रानी और मन्त्रीने सम्बन्दरकी चिकित्सा करानेके लिए राजासे प्रार्थना की। सम्बन्दरकी प्रार्थनासे राजा स्वस्थ हो गया। चतुर सम्बन्दरने इस घटनासे पूरा लाभ उठानेके लिए जैन मन्त्रों और जैनधर्म-को निरर्थक बतलाया। फलस्वरूप राजाने जैनोंको अपने धर्मकी सत्यता प्रमाणित करनेकी आज्ञा दी। परस्परकी स्वीकृतिसे अपने-अपने धर्मकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिए दो परीक्षाएँ निर्धारित की गयी। प्रथम, जैनोकी एक धर्म-पुस्तक और सम्बन्दरकी एक प्रार्थनासे अंकित एक पत्ती आगमें डाल दी गयी। जैनोंकी धर्म-पुस्तक तो जलकर राख हो गयी, किन्तु पत्ती लपटोंमें पडकर जलनेके बदले और भी अधिक चमकने लगी। दूसरी परीक्षाके लिए उक्त दोनो वस्तुएँ वेगीके तीक्ष्ण प्रवाहमे फेंक दी गयी। पत्ती प्रवाहके विरुद्ध तैरने लगी किन्तु जैनोकी पुस्तक जलमें डूब गयी। यह जैनोंके लिए जबरदस्त धक्का था। इसके बादसे जैन राजाके केवल विश्वाससे ही बंचित नहीं हो गये किन्तु हजारो जैन अपने जीवनसे भी वंचित कर दिये गये'। इस काल्पनिक अतिशयोक्तिपूर्ण विवरणमें सम्बन्दरकी ऐतिहासिकता निःसन्देह है। उसीने मदुराके राजाको जैन धर्मसे शैव धर्ममें दीक्षित किया और यह जैनोके लिए संघातक हुआ।

दक्षिणमें जैन धर्मका विरोध करनेवाले सम्बन्दरका एक अन्य सहयोगी सन्त तिरुनावुक्करसर था। यह सम्बन्दरका समकालीन था। इनका समय श्री राम-स्वामी आयगरने ईसाकी सातवी शताब्दीका पूर्वार्ध निर्णीत किया है और तभीसे दक्षिण भारतमे जैन धर्मके पतनकालका आरम्भ माना है।

यदि सम्बन्दरने पाण्ड्य राज्यमे जैन धर्मका पतन कराया तो अप्परने पल्लव देशसे जैन धर्मको निष्कासित किया। अप्परका जन्म भी दक्षिण आरकाट जिलेके तिरुवामूर गाँवमें वल्लाल माता-पितासे हुआ था। उसकी एक बडी बहन थी। उसका नाम तिलकावती था। उसका पति पल्लव नरेश परमेश्वर वर्मा और चालुक्योंकी (६६० ई०) लडाईमें मारा गया था। उसके मरनेके बाद उसने

अपना जीवन शिवकी सेवामें अर्पण कर दिया। किन्तु उसका भाई अप्पर जैन हो गया और तिरुप्पापुलियूरके एक जैन मठमें धर्मसेनके नामसे रहने लगा। अपने जीवनके अन्तिम वर्षोंमें अपनी बहनके आग्रहसे उसने शैव धर्म अंगीकार कर लिया और पूरे उत्साहसे पल्लव देशके जैनोंको सताने लगा। उसने पल्लवराज महेन्द्र वर्माको भी, जो नरसिंह वर्मा प्रथमका पुत्र था, जैनसे शैव बना लिया। उसके द्वारा रचित अधिकांश स्तुति और भजन जीवनचरितरूप हैं। उनसे ज्ञात होता है कि उसे अपने दिगम्बर जैन धर्म स्वीकार करनेका बड़ा पश्चात्ताप था। उसने जैनोंका जो विवरण दिया है वह उल्लेखनीय है। किन्तु उसकी रचनाएँ एक धर्मपरिवर्तन करनेवालेकी बदला लेनेकी भावनासे भरी हुई हैं। उसके लिखनेके अनुसार सन्त सम्बन्दर और वैष्णव सन्त तिरुमळीसई तथा तिरुमंगैके कट्टरतापूर्ण उपदेशोंने तमिल प्रदेशमे जैन धर्मको दबा दिया।

इस तरह ईसाकी सातवीं शताब्दीके मध्य और आठवीं शताब्दीके प्रारम्भमें पल्लव और पाण्ड्य देशोंमें जैनोंको लगातार आपत्तियोंका सामना करना पड़ा। इस कालमें चोल राजाओंने भी जैन धर्मकी कोई सहायता नहीं की क्योंकि वे शिव भक्त थे। किन्तु यह अनुमान करना कि उक्त दोनों देशोंसे जैन धर्मकी जड़ उखाड़ दी गयी, गलत है। जैन धर्मके प्रबल शत्रु सम्बन्दरकी प्रेरणासे जो आठ हजार जैन कोल्हूमें पेल दिये गये, वे सब जैन धर्मके मात्र अनुयायी नहीं किन्तु मुखिया थे।

पेरियपुराणम्[1]से यह स्पष्ट है कि पल्लव तथा पाण्ड्य देशोंमें जैनोंको निर्दयतापूर्वक सताया गया। अप्परके भजन इस प्रकारके धार्मिक उत्पीडनके उल्लेखोंसे भरे हुए हैं। अत्युक्तियोंको पर्याप्त रूपसे छोड़ देनेपर भी उनकी सत्यतामें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है।

छठी और सातवीं शताब्दीमें तमिल देशमें, उसमें भी मुख्यतया पाण्ड्य राज्यमें जैनोंका बड़ा भारी राजनैतिक प्रभाव था। कलभ्रोंके आक्रमणके समयसे लेकर सुन्दर पाण्ड्यके धर्मपरिवर्तन काल तक जैन लोग राज्यकी राजनीतिके सूत्रधार थे। वे प्रत्येक परिस्थितिसे लाभ उठाते थे और वैदिक धर्मका कठोरतासे विरोध करते थे। इसने शीघ्र ही प्रतिक्रियाका रूप ले लिया। इसलिए सुन्दर पाण्ड्यका धर्मपरिवर्तन मदुरा राज्यके धार्मिक इतिहासमें केवल एक प्रासंगिक घटना नहीं है। यह एक राजनैतिक क्रान्ति थी और उसका लाभ ब्राह्मण सन्त सम्बन्दरने खूब उठाया। इसके फलस्वरूप हजारों जैनोंको बलात् शैव बनाया

---

१ स्ट० सा० द० जै०, पृ० ६७।

गया और जिन्होने अपनी कट्टरतावश शैव धर्म स्वीकार नहीं किया उन्हें देशसे निकाल दिया गया।

तमिल देशके जैनोके विरुद्ध चलनेवाले आन्दोलनमें वैष्णव आल्वारोने जो भाग लिया, उसका विचार करनेसे पहले हम तेवारम्‌के भजनोसे सातवीं आठवी शताब्दीके जैनोके जीवन तथा क्रियाकलापपर जो प्रकाश पडता है उसे देते है। तेवारम् दस दस कविताओके स्तवकोसे गूथी हुई काव्यमाला है।

दक्षिणमें जैनोका दृढ प्रभुत्व मदुरामें था। और उसके सूत्रधार जैन साधु मदुराके समीपवर्ती आठ पहाडियोपर रहते थे। वे एकान्तवासी थे और अपनेको समाजसे अलग रखते थे, उसमें मिलते जुलते नही थे। यदि उन्हें मार्गमें अचानक कोई स्त्री मिल जाती थी तो वे भागकर मकानमें चले जाते थे और द्वार बन्द कर लेते थे। वे अनुनासिक स्वरमें प्राकृत तथा अन्य मन्त्रोको बोलते थे। सूर्यकी तपती हुई किरणोमें वेद और ब्राह्मणोका विरोध करते हुए भ्रमण करते थे। और अपने हाथोमे एक छाता (?), एक चटाई और एक मयूरपिच्छ लिये रहते थे। सम्बन्दरने उनकी तुलना बन्दरोसे की है। वे धार्मिक वाद-विवादके बडे प्रेमी तथा अन्य धर्मोके विद्वानोके साथ शास्त्रार्थ करनेमें निपुण होते थे। अपने सिरके बालोको स्वय अपने हाथसे उखाड डालते थे और नगे रहते थे। भोजनसे पहले वे स्नान नही करते थे। आत्मयन्त्रणाके लिए कठोर व्रत लेते थे। सूखे फल और पत्तियाँ खाते थे। अपने शरीरपर माजूफलका चूर्ण पोतते थे। तन्त्र-मन्त्रमें बडे दक्ष होते थे और उनकी प्रशसा करते थे।

सम्बन्दर और अप्परके भजनोमें जैन साधुओंका उक्त विवरण मिलता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह विवरण विरोधी पक्षके द्वारा दिया हुआ है। सम्बन्दरका मुख्य उद्देश अविचारी जनताको जैनोके विरुद्ध उत्तेजित करना तथा उनके आचरणोको जहांतक सम्भव हो, बुरे रूपमें चित्रण करना था। श्री रामस्वामी [1]आयगरने लिखा है कि यह सब जानते है कि गालियाँ कोई युक्तियाँ नही है। और उक्त भजनोमें गालियोके सिवाय अन्य कुछ नही है। हमें बलात् यह निष्कर्ष निकालना पडता है कि सम्बन्दर और अप्परने जैनोको पराजित करनेके जो जो ढग अपनाये वे केवल असभ्य ही नहीं थे, किन्तु क्रूर भी थे। दूसरी ओर यह भी स्वीकार करना पडता है कि जैनोंने राजाओके साथ अपनी मैत्रीका तथा उनपर अपने प्रभावका अनुचित लाभ उठाया था।

---

१ स्ट० सा० इ० जै०, पृ० ७०।

इस प्रकार सातवी शताब्दीके मध्यमें पल्लव और पाण्ड्य देशोमे जैनोको आपत्तियोका सामना करना पडा। किन्तु उन देशोसे उनकी जड नही उखाडी जा सकी, क्योकि आठवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें वर्तमान प्रसिद्ध वैष्णव सन्त तिरुमगै, जो चोलदेशके उत्तरपूर्वी भागमें अवस्थित गाँवोंके एक छोटे-से समूहका जिसे अलीनाटू कहते थे, मुखिया था, जैनोका बहुतायतसे उल्लेख करता है। वह जैनी तथा अन्य नास्तिक सम्प्रदायोके घोर शत्रु अपने पूर्वज तिरुमझिसइ पिरान-का सहयोगी था। तिरुमगैके समकालीन एक अन्य आल्वार तोण्डर-डिपोडीने जैनोके विरुद्ध आन्दोलनमे सहयोग दिया। उसके भजन जैनोके विरुद्ध घोर आक्षेपपूर्ण है।

इससे स्पष्ट पता चलता है कि जैन लोग तमिल देशमें बहुत काल तक रहे और सम्पूर्ण दक्षिण भारतमें स्थित ८८ वैष्णव मन्दिरोकी यात्रा करते समय तिरुमगै आल्वारका उनके साथ वाद-विवाद हुआ, क्योकि तिरुमगै बडा शास्त्रार्थी था।

नम्मालवारके समयमें, जो शायद अन्तिम वैष्णव सन्त था, जैन धर्म और बौद्ध धर्म दक्षिण भारतसे लगभग लुप्त हो गये क्योकि उसने जैनोका बहुत ही कम उल्लेख किया है।

शैव नायनार और वैष्णव आल्वारोके पश्चात् हिन्दू धर्मके आचार्योंने इस हिन्दू धर्मकी क्रान्तिमें बडी सहायता की। इनमें से सबसे प्राचीन आचार्य शकरने (ईसाकी आठवीं शताब्दी) अपना लक्ष उत्तरकी ओर किया। इससे वह सकेत मिलता है कि दक्षिण भारतके धार्मिक जीवनमें जैनोकी प्रमुखताका अन्त हो चुका था। पल्लव और पाण्ड्य राज्योके उपद्रवोके पश्चात् जैन लोग बडी सख्या-में मैसूर राज्यके श्रवणबेळगोळ नामक अपने प्रमुख धार्मिक केन्द्रमें आकर बस गये। वहाँके गगराजाओने उन्हें सरक्षण दिया जो थोडे-बहुत शेप रह गये उन्हें प्रभावशून्य जीवन बितानेके लिए बाध्य होना पडा। तथापि उनकी बौद्धिक जीवन शक्ति जाग्रत रही। इसीसे उस विनाशके समयमें भी जैन सन्त तिरुत्त-क्कदेवनारने महाकाव्य चिन्तामणिकी रचना की। प्रसिद्ध तमिल वैयाकरण पवनन्दिने १३वी शताब्दीमें अपना नन्नूल प्रकाशित किया। उसे गगराज सीय-गगने सरक्षण दिया था। अन्य भी अनेक ग्रन्थ जैनोने रचे, जिनका विस्तृत विवरण आगे दिया जायेगा।

---

१ स्ट० सा० इ० जै० पृ० ७० ।

हिन्दू धर्मके अन्तिम आचार्य माधवाचार्यके समयमें मुसलमानोके दक्षिण विजयके साथ समस्त साहित्यिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ बन्द हो गयी और अन्य धर्मावलम्बियोके साथ जैनोको भी मूर्तिभजकोके द्वारा उत्पीडित और अपमानित होना पडा।

इस प्रकार श्री रामस्वामी आयगरने तमिल[1] साहित्यकी सहायतासे भारतके दक्षिण भागमें जैनोके प्रवेश, अभ्युत्थान और पतनका पूर्णरूपसे चित्र खींचा है।



१ स्ट० सा० इ० जै०।

३. जैनोंकी तमिलको देन

जैन लोग बडे अध्ययनशील और सुलेखक थे। साहित्य और कलाके प्रेमी थे। तमिल साहित्यको जैनोकी देन तमिल साहित्यके भण्डारकी बहुमूल्य सम्पत्ति है। तमिल भाषामें पाये जानेवाले संस्कृत यौगिक शब्दोंका बहुभाग जैनोका ऋणी है। उन्होंने जो शब्द संस्कृतसे लिये तमिलभाषाके स्वरसम्बन्धी नियमोके अनुसार उन्हें परिवर्तित कर दिया। जैन तमिल साहित्यकी एक बडी विशेषता यह है कि कुछ उच्चकोटिके ग्रन्थोमें, उदाहरणके लिए कुरल और नालडियारमें किसी विशेष धर्म और देवताका निर्देश नहीं है। केवल तमिल साहित्य ही नही, कर्नाटक साहित्यका बहुभाग भी जैनोका ऋणी है। यथार्थमे वे इनके मूल उत्पादक है।

जैनोकी दूसरी बहुमूल्य देन है अहिंसा। जैनोकी अहिंसाके ही प्रभावके कारण वैदिक यज्ञोम होनेवाली हिंसा पूर्णतया बन्द हो गयी और यज्ञमें पशुके स्थानपर आटेसे बनाये गये पशुका उपयोग किया जाने लगा। इस विषयमें तमिल कवियोने जैनोसे प्रेरणा ग्रहण की और अतिशय घृणा दर्शानेके लिए तमिल साहित्यसे उद्धरण दिये गये क्योकि द्रविडोका बहुभाग मासभक्षी था[1]।

[2]दक्षिण भारतमें वृहत् परिमाणमें मूर्तिपूजा और मन्दिरोका निर्माण भी जैन प्रभावकी देन है। मूलत ब्राह्मणधर्म मूर्तिपूजक नहीं था। तब उसने अपने देवताओकी पूजाके लिए विशाल मन्दिरोका निर्माण कैसे किया? उत्तर सरल है। जैन लोग अपने तीर्थंकरोकी मूर्तियाँ बनवाते थे और विशाल मन्दिरोंमें प्रतिष्ठित करके उनकी पूजा करते थे। पूजाकी यह शैली बडी प्रभावक और आकर्षक है अत उसका तत्काल अनुकरण किया गया। अप्पर और सम्बन्दर-के आविर्भावके पश्चात् तो खास तौरसे चमत्कार और ईश्वरभक्तिका समय आया और सारा देश मन्दिरोसे भर गया। एक बात और भी उल्लेखनीय है कि इन मन्दिरोंमें उन सभी सन्तोके लिए एक एक वेदिका स्थान दिया गया जिन्होने

---

१ स्ट० सा० इ० जै०, पृ० ७७।

२ वही, पृ० ७७।

किसी भी प्रकारसे शैव धर्मके उद्धारमें योगदान किया था। मदुराके बडे मन्दिरमें ६३ नायनारो या शिवभक्तोमें-से प्रत्येकके लिए एक एक वेदिका दी गयी है। यदि यह पद्धति शैवोने जैनोसे नहीं ली तो नायनारोमें-से बहुत पहले कौन अपने सन्तोको इस रूपसे पूजता था।

जैन शिक्षण सस्थाओ और जैन प्रचारको निष्फल करनेके लिए और द्रविडोके बौद्धिक और नैतिक उत्थानके लिए समस्त दक्षिण भारतमें मतम् और पाठशा-शालाओंकी स्थापना की गयी। इस प्रकारकी पाठशालाएँ आज समस्त दक्षिण भारतमें फैली हुई हैं।



४. तमिलमें जैन अवशेष

दक्षिण भारतमें पाये जानेवाली खण्डित जैन मूर्तियो, उजडी हुई गुफाओ और भग्न जैन मन्दिरोकी बहुलता तत्काल हमारे मनमें विगत समयमें जैन धर्मकी महत्ता और ब्राह्मणोके धार्मिक विद्वेषका स्मरण करा देती है। जैनोको भुला दिया गया, उनकी परम्पराओकी उपेक्षा कर दी गयी, किन्तु जैनो और ब्राह्मणोमें हुए उस मर्मभेदी कलहकी स्मृति मदुराके मीनाक्षी मन्दिरके सरोवरकी दीवारो-पर अकित चित्रावलीके रूपमें सदाके लिए जीवित रखी गयी है। इन चित्रोमें जैन धर्मके प्रधान शत्रु सम्बन्दरकी प्रेरणासे किये गये जैनोके उत्पीडन और कोल्हूमें पेले जानेकी घटनाएँ अकित है। उस अभागी जातिको दबानेके लिए इतना ही पर्याप्त नहीं समझा गया। शायद इसी कारणसे मदुराके मन्दिरमें प्रति वर्ष होनेवाले बारह उत्सवोमें-से पाँचमें उस समस्त दु खान्त नाटककी पुनरावृत्ति की जाती है। यह विचारनेसे दु ख ही होता है कि चिरकालीन उपाख्यानो और निर्जन प्रदेशोमें पडे हुए जैन भग्नावशेषोके सिवाय दक्षिण भारतमें जैन धर्मकी उस गौरव गरिमाको आँकनेका कोई साधन शेष नहीं बचा है जो उसने अतीत कालमें प्राप्त[1] की थी। उन्हीं अवशेषो और अभिलेखोके आधारपर आगे तमिल प्रदेशमें जैन धर्मका परिचय कराया जाता है।

प्राचीन समयमें काची या काची प्रदेश जैन धर्मका प्रमुख केन्द्र था। यह पल्लवोकी राजधानी थी। प्रारम्भमे पल्लव राजाओसे जैन धर्मको केवल क्रियात्मक सहयोग ही नहीं मिला, किन्तु कुछ पल्लव राजाओने जैन धर्मको धारण भी किया। महेन्द्र वर्मा प्रथम प्रारम्भमें जैन धर्मका कट्टर अनुयायी था। बादको उसे शैव सन्त अप्परने शैव धर्ममें दीक्षित कर लिया।

काँचीके पास तिरुपरुत्तिकुन्रुमें दो जैन मन्दिर थे। इनमें-से एक मन्दिर वर्धमान तीर्थंकरका था और दूसरा ऋषभदेव तीर्थंकरका था। ये दोनो मन्दिर वामन और मल्लिषेणकी प्रेरणासे महेन्द्र वर्मा प्रथमने ही बनवाये थे।

तिरुपरुत्तिकुन्रु कजीवरम्से लगभग दो मीलकी दूरीपर स्थित है। इसे जिनकाची कहते हैं। आज भी वहाँ एक विशाल जैन मन्दिर है। यह मन्दिर

---

१ स्ट० सा० इ० जै०, पृ० ७८-८०।

स्थापत्य कलाकी दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें जैन तीर्थंकरोंकी बहुत सी मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। प्रधान मूर्ति वर्धमान तीर्थंकरकी है, और उसकी पदवी त्रैलोक्यनाथ स्वामी है। यहाँसे १७ शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनसे मन्दिरके इतिहासपर अच्छा प्रकाश पडता है। ये शिलालेख १२ से १६वी शताब्दी तकके हैं।

एक शिलालेख लगभग १११६ ई० का चोलराज कुलोत्तुंगके राज्यकालका है। उसमे उस स्थानके ऋषि समुदायके उद्देश्यसे नहर खोदनेके लिए जमीन खरीदनेका निर्देश है। दूसरा शिलालेख उसके कुछ समय बादका विक्रम चोलके राज्यकालका है। उसमें जैन मन्दिरके लिए जमीन खरीदनेका उल्लेख है। इस शिलालेखमें तिरुपरुत्तिकुन्रुको 'पल्लीच्छन्दम्' लिखा है, जिससे प्रकट होता है पूरा ग्राम जैन मन्दिरको दानमें प्राप्त हुआ था। एक तीसरे शिलालेखमें, जो ११९९ ई० का है, कुरुक्कल चन्द्रकीर्तिका उल्लेख है। एक चौथे शिलालेखमें पुष्पसेन वामनार्यका उल्लेख है उसका दूसरा नाम परवादिमल्ल था और वह मल्लिषेण वामन सूरिका शिष्य था।

शेष शिलालेखोंमें-से चार तो विजयनगर राजाओके समयके है, दो बुक्क द्वितीयके और दो कृष्णराज देवरायके समयके हैं। इनमे-से दो शिलालेख १३८२ ई० और १३८८ ई० के हैं। उनमें बुक्क द्वितीयके मन्त्री इरुगुप्पके द्वारा दान दिये जानेका निर्देश है। इस प्राचीन दानपत्रमें देवताको 'त्रैलोक्यवल्लभ' नामसे अभिहित किया है।

कांची शताब्दियो तक बौद्ध धर्मका महान् केन्द्र रहा है। ५वीं शताब्दीमें बौद्ध धर्मका पतन होनेपर जैन धर्मने तेजीसे प्रधानता प्राप्त कर ली और यह कांचीके आसपासके प्रदेशोंमें भी फैल गया। छठी और सातवीं शताब्दीमें जैन धर्मकी बहुत अच्छी स्थिति थी यह हम पूर्वमें बतला आये हैं। चीनी यात्री ह्यून्त्सागने लगभग ६४० ई० में कांचीको देखा था। उसने अपने यात्रा विवरण-में लिखा है कि कांची शहरमें जैन लोग बहुत अधिक हैं और बौद्ध तथा ब्राह्मण लगभग बराबर है। कांचीके आसपासके प्रदेशोकी भी प्राय वही स्थिति थी। कजीवरम् ताल्लुकेके स्थानोकी परीक्षासे भी इसका समर्थन होता है। नीचे हम वहाँ वर्तमान जैन पुरातत्त्वोंकी एक झलक प्रस्तुत करते हैं। कजीवरम् ताल्लुकेके अनेक ग्रामोंमें जैन अवशेष प्राप्त हुए हैं। आर्पक्कम (Arpkkam)मे आदि-भट्टारकका एक जिनमन्दिर है। मागरल [Magaral] मे भी एक जिनमन्दिर है। आर्यपेरुम्बाक्कम [Aryperumbakkam] और विशारमें खण्डित जैन मूर्तियाँ हैं।

आरकाट कस्बेसे दक्षिण-पश्चिममें ... मीलपर ...
ती है। उसपर दो गुफाएँ हैं—एक स्वाभाविक है और दूसरी बनवायी हुई है।
 शिलालेख और मूर्ति अंकित है।

एक शिलालेख ७ वीं ८ वीं शताब्दीके अति प्राचीन तमिल अक्षरोंमें खोदा
 है। उसपर नन्दिप्पोट्टरसरका पचासवाँ वर्ष अंकित है और लिखा है कि
ालयमंगलम्के निवासी नारननने गुरु नागनन्दीके साथ पोन्नियक्कियारकी
का निर्माण कराया। नन्दिपोट्टरसर पल्लवनरेश नन्दिवर्मा हो सकता है,
सने ७१७ ई० से ७७९ तक राज्य किया था। पोन्नियक्कियारका अर्थ होता
— स्वर्ण यक्षिणी। उल्लेखनीय बात यह है कि यक्षीके साथ जिनप्रतिमा अंकित
ी है। जब कि साधारण पद्धति यही है कि जिनमूर्तिके साथ ही उसकी भक्त
क्षणीकी मूर्ति अंकित की जाती है।

पचपाण्डवमलैका दूसरा शिलालेख पहलेसे लगभग दो शताब्दी बादका
। इसपर चोलराज राजराजका आठवाँ वर्ष अंकित है। राजराज चोल
८४–८५ ई० में राज्यासनपर बैठा था। उसमें चोलराज लाटराज वीर चोलके
क सामन्तका निर्देश है, जो जैन धर्मका उत्साही अनुयायी था। पूरी बातोंके
ध्ययनसे प्रकट होता है कि पूरी पचपाण्डव पहाड़ी बहुत पुराने समयसे जैन
रम्परासे सम्बद्ध है और आस-पासमें रहनेवाला जैन समुदाय उसे एक पवित्र
थान मानता रहा है।

पचपाण्डवमलैसे उत्तरमें कुछ मीलपर एक और पहाड़ी है। उसपर
ी एक प्राकृतिक गुफा है। उसमें जिनमूर्तियाँ और शिलालेख अंकित हैं। एक
शिलालेख पश्चिमीय गंगनरेश राजमल्लका है। उसमें लिखा है कि राजमल्लने
इसे अपने अधिकारमें लेकर उसपर गुफा मन्दिरका निर्माण कराया। एक दूसरे
लेखमें अज्जनन्दि भट्टारका निर्देश है। एक तीसरे लेखमें लिखा है कि यह
मावनन्दि भट्टारके शिष्य साधु देवसेनकी मूर्ति है। एक चौथे लेखमें बालचन्द
भट्टारके शिष्य अज्जनन्दि भट्टारके द्वारा गोवर्धन भट्टारकी मूर्ति निर्माण करानेका
उल्लेख है। मोटे तौरपर इन शिलालेखोंका समय ९वीं, १०वीं शताब्दी अनु-
मान किया जाता है।

पोलूरसे लगभग दस मीलपर तिरुमलै ग्रामके निकट तिरुमलै नामकी
पहाड़ी है। इस गाँवमें अभी भी जैनोंका निवास है और उनमें-से कुछ जैनोंके
घरोंमें ताडपत्रपर लिखे हुए जैन ग्रन्थ भी हैं। उनमें-से कुछ ग्रन्थोंके नाम इस
प्रकार हैं[1] — १ त्रैलोक्यचूडामणि — मूल ग्रन्थ प्राकृतमें है और तमिलमें उसकी

१ जैं० सा० इ०, पृ ४२।

आगे मण्डप बने हुए हैं जिनसे प्रतीत होता है कि मध्यकालमें ये स्थान साधु और आर्यिकाओंके निवासस्थान थे।

पोन्नूरमें जैन धर्मके अवशेष आज भी सुरक्षित हैं। यह स्थान अवश्य ही एक समय जैन धर्मका प्रभावशाली केन्द्र रहा है। कनकगिरि पहाड़ीपर आदिनाथ तीर्थंकरका विशाल जिनालय है जो आज भी पूजा जाता है। उसमें जैन तीर्थंकरोंकी तथा अन्य देवताओंकी मूर्तियां हैं। उनमें एक मूर्ति ज्वाला-मालिनी देवीकी है। उसके आठ हाथ हैं। दाहिनी ओरके हाथोंमें मण्डल, अभय, गदा और त्रिशूल हैं तथा बायी ओरके हाथोंमें शंख, ढाल, कृपाण और पुस्तक है। अनेक दृष्टियोंसे इसकी आकृति हिन्दुओंकी महाकालीसे मिलती है। पोन्नूरसे लगभग तीन मीलपर नीलगिरि नामक पहाड़ी है। उसपर हेलाचार्यकी मूर्ति अंकित है।

आदिनाथ मन्दिरके महामण्डपमें दो शिलालेख हैं उनमें मन्दिरका इतिहास दिया है। उसमें-से प्राचीन शिलालेख पाण्ड्यनरेश त्रिभुवनचक्रवर्ती विक्रम पाण्ड्यके राज्यकालके ७वें वर्षका है अत उसका समय १२८९ ई० है। दूसरा शिलालेख शक संवत् १६५५ (१७३३ ई०) का है। इसमें लिखा है कि स्वर्णपुर कनकगिरिके जैनोंको हेलाचार्यकी साप्ताहिक पूजाके अवसरपर प्रत्येक रविवारको आदीश्वरके मन्दिरसे पार्श्वनाथ और ज्वालामालिनीकी मूर्तियां नीलगिरि पर्वतपर अवश्य ले जाना चाहिए।

उस क्षेत्रमें प्रचलित किंवदन्तीके अनुसार हेलाचार्यकी किसी शिष्याको ब्रह्मराक्षस सताता था। उसे बचानेके लिए हेलाचार्यने नीलगिरि पर्वतपर ज्वालामालिनीकी मूर्ति स्थापित की।

इन्द्रनन्दिने राष्ट्रकूटनरेश कृष्णराज तृतीयकी संरक्षकतामें शक संवत् ८६१ (९३९ ई०) में ज्वालामालिनी कल्पकी रचना की थी। उसमें उन्होंने हेलाचार्यका विवरण दिया है अत हेलाचार्यकी ऐतिहासिकतामें कोई सन्देह नहीं है। ज्वालामालिनीकी पूजाके आविष्कर्ता भी सम्भवतया वही हैं। यदि वह इन्द्रनन्दिसे एक या दो शताब्दी पूर्व हुए हैं तो उनका समय आठवीं या नौवीं शताब्दी होना चाहिए।

पाटलीपुर –

दक्षिण आरकाट जिलेका पाटलीपुर गाँव भी जैनगुरुओंका केन्द्र था। दिगम्बर जैन ग्रन्थ संस्कृत लोक विभागमें सिंहसूरिने लिखा है कि मुनि सर्व-नन्दीने शक सं० ३८० (४५८ ई०) में पाटलिका ग्राममें पहले इस शास्त्रकी रचा

था। सम्भवतया वह पाटलिका पाटलीपुर ही है। कहा जाता है कि ईसासे पूर्व प्रथम शताब्दीमें वहाँ द्रविड संघ वर्तमान था। पेरियपुराणके अनुसार ७वीं शताब्दीमें इस स्थानपर एक विशाल जैन मठ था। आस-पासके स्थानोंसे प्राप्त पुरातत्त्वकी सामग्रीसे भी इस बातका समर्थन होता है कि इस प्रदेशमें जैनोंका आधिपत्य था।

वर्तमानमें तमिलवासी जैन मुख्य रूपसे उत्तर आरकाट, दक्षिण आरकाट और चिंगलपुर जिलोंमें निवास करते हैं। उनके गुरु भट्टारकका मुख्य निवास स्थान गिंजी ताल्लुकेके चित्तामूर नामक स्थानमें है। यह मठ श्रवणबेळगोळाके जैन मठसे सम्बद्ध है। चित्तामूरमें दो जैन मन्दिर हैं। मल्लिनाथ मन्दिर एक चट्टानपर स्थित है। यह मन्दिर प्राचीन होना चाहिए। दूसरा पार्श्वनाथ मन्दिर मठके आधीन है। यह बाद का है। इसके मानस्तम्भपर दो शिलालेख हैं। उनमें-से एक १५७८ ई० का है और दूसरा शक सं० १७८७ (१८६५ ई०) का है।

सित्तन्नवासल –

अब हम सित्तन्नवासलकी ओर आते हैं। पहले यह स्थान पुदुकोट्टा स्टेटके अन्तर्गत था। यह वह स्थान है जहाँ ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दीसे लेकर १२वीं शताब्दी पर्यन्त १५०० वर्ष तक जैन धर्मका प्रकाश फैला रहा है। यह स्थान अनेक प्रकारके पुरातत्त्वोंसे समृद्ध है। यहाँ प्राकृतिक गुफाएँ हैं, चट्टान काटकर बनाये हुए पवित्र स्थल हैं, मूर्तियाँ हैं, मन्दिर हैं और तमिल तथा ब्राह्मी अक्षरोंमें अंकित शिलालेख हैं। यह स्थान भी बौद्धोंके अनुशासनके अन्तर्गत आया किन्तु उनके प्रभावसे अछूता रहा। यहाँसे खुदाईमें जैन धर्मके अनेक उल्लेखनीय अवशेष प्राप्त हुए हैं।

पहाड़ियोंकी एक लम्बी कतारका नाम सित्तन्नवासल है। सित्तन्नवासलका अर्थ होता है – सिद्धों या जैन साधुओंका वासस्थान। तमिलमें सिद्धका उच्चारण 'सित्त' होता है और 'वासल'का अर्थ होता है – रहनेका स्थान।

इस पहाड़ीपर एक प्राकृतिक गुफा है। उसमें पत्थर काटकर सत्रह शयन स्थान तकियोंके साथ बनाये गये हैं। सबसे बड़ी शायिकापर जो सबसे प्राचीन भी होनी चाहिए, ईसवी पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दीके लगभगका एक शिलालेख ब्राह्मी अक्षरोंमें अंकित है। शेष शयनस्थानोंके बाजूमें छोटे लेबुलनुमा शिलालेख अंकित हैं। उनमें उन जैन साधुओंके नाम हैं जो उन शायिकाओंपर निवास करते थे। ये शिलालेख तमिल अक्षरोंमें है और ८वीं, ९वीं शताब्दीके हैं।

सित्तन्नवासलके अतिरिक्त तेनीमलै, नारट्टामलै और आलरुट्टीमलै नामक पहाडियोमें भी प्राकृतिक गुफाएँ पायी गयी हैं। किन्तु कहीं भी बौद्धसम्बन्धी कोई अवशेष नहीं मिला। अत यह विश्वास करनेका कोई कारण नही है कि किसी समय वहाँ बौद्ध साधु रहते थे। यद्यपि विभिन्न स्रोतोसे प्राचीन समयमें तमिल देशके अन्य भागोमें बौद्ध साधुओकी क्रियाशीलता प्रसिद्ध रही है। इसके विपरीत इस निष्कर्षपर पहुँचनेके लिए स्पष्ट चिह्न[1] मिलते हैं कि प्राचीन समयसे लेकर बादके समय तक इन प्राकृतिक गुफाओमें जैन साधुओका निवास था।

सित्तन्नवासलमें दूसरी उल्लेखनीय वस्तु एक जैन मन्दिर है जो चट्टानको काटकर बनाया गया है। कहा जाता है कि पल्लवनरेश महेन्द्र वर्मा प्रथमने, जब वह जैन धर्मको पालता था, इस मन्दिरको बनवाया था। इस मन्दिरको चित्रकारी दर्शनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भमें पूरा मन्दिर चित्रोसे खचित था। अब तो छतके नीचेके भागमें और स्तम्भोके ऊपरवाले भागमे ही चित्र शेष बचे हैं। पूरी चित्रकारीमें जैनकलाके विविध रूप अकित हैं। श्री पी० बी०[2] देसाईने लिखा है कि सित्तन्नवासलकी चित्रकारी भारत महाद्वीप और श्रीलकाकी कला परम्परामें एक प्रमुख कडीका निर्माण करती है। और अजन्ता तथा बाघकी गुफाओ और सिगिरिय (श्रीलका) की चित्रकारीके साथ तुलनात्मक अध्ययनके योग्य हैं। ये सब चित्रकारियाँ चौथीसे सातवीं शताब्दीके बीचमें की गयी हैं। सित्तन्नवासलकी चित्रकारी दक्षिण भारतकी चित्रकारीका प्राचीनतम नमूना है। और जैन दृष्टिमे तो प्राचीन जैन चित्रकला-का अनुपम उदाहरण है।

नारट्टामलै नामक पहाडीपर भी जैन अवशेष हैं जिनसे प्रकट होता है कि प्राचीन कालसे ही यहाँ जैन साधुओका आवास था। और अनेक महान् साधु यहाँ तपस्या करते थे। उन्होने यहाँ धर्म प्रचारके लिए मठोकी स्थापना की थी। कुछ समय बीतनेपर यह स्थान जैन धर्मका प्रमुख केन्द्र बन गया था।

आलरुट्टीमलै (Aluruttımalaı) नामक पहाडीपर भी सित्तन्नवासलकी तरह प्राकृतिक गुफाएँ है। पहाड काटकर बनायी गयी अनेक जैन मूर्तियाँ भी है। मारवर्मा सुन्दर पाण्ड्य नामक पाण्ड्य नरेश (११वी शती) के समयका एक त्रुटित शिलालेख भी है। जैन धर्मकी सत्ताके होनेसे ही इस पहाडीको आल-रुट्टीमलै नाम दिया गया है। पासमें ही बोम्ममलै नामकी पहाडी है। बोम्ममलैका अर्थ होता है 'मूर्तियोकी पहाडी'। एक दानपत्रमें तिरुप्पल्लीमलै और तेन-

---

१ जै० सा० इ०, पृ० ५२।

२ जै० सा० इ०, पृ० ५३।

तिरुप्पल्लीमलैके मठोंमें रहनेवाले साधुओं और जैनमूर्तियोंकी व्यवस्थाके लिए एक गाँव देनेका उल्लेख है। तेनतिरुप्पल्लीमलैका अर्थ होता है – 'पवित्र मठकी दक्षिणी पहाडी'। नारट्टामलैकी एक पहाडीका नाम मेलामलै है। मेलामलैका अर्थ होता है – पश्चिमी पहाडी। इसपर गुफाएँ हैं जिनमें अवश्य ही एक समय जैन साधु रहते थे। इसके दूसरे नाम 'समणरमलै'से भी इसका समर्थन होता है। समणरमलैका अर्थ है – जैन साधुओंकी पहाडी। इस पहाडीपर पहाड काटकर बनाया गया एक गुफा मन्दिर भी है। जो 'समणरकुडगु' – 'जैन-साधुओंका पहाडी मन्दिर' नामसे प्रसिद्ध है। १३वीं शताब्दीके प्रारम्भमें इसे विष्णु मन्दिरके रूपमे बदल दिया[1] गया।

पुद्दुकोट्टा प्रदेशमें तेनीमलै (Tenimalai) नामक पहाडी भी जैन अव-शेषोंकी दृष्टिसे उल्लेखनीय है। उसपर एक प्राकृतिक गुफा है उसे आन्दारमदम (Āndārmadam) कहते है जिसका अर्थ होता है 'प्रमुख धर्मगुरुकामठ'। गुफाके सामने एक पत्थरपर लगभग ८वीं शतीकी प्राचीन तमिल भाषा और प्राचीन तमिल अक्षरोंमें एक लेख खुदा हुआ है। उसमें उस पहाडीपर तपस्या करनेवाले मलयध्वज नामके जैन साधुकी व्यवस्थाके लिए भूमिदानका निर्देश है। गुफाके निकट एक दूसरे पत्थरपर एक मूर्ति अंकित है, जो महावीर स्वामीकी प्रतीत होती है। इस स्थानपर तथा इस प्रदेशके अन्य भागोंमे भी यक्षिणीकी बहुत मूर्तियाँ मिलती हैं।

इसी प्रदेशमें एक चेट्टीपट्टी नामक स्थान है। वहाँ भी जैन अवशेष बहुतायत-से मिलते हैं। उसके पासमें समणरकुण्डु नामक एक पहाडीपर सन् १९३६से खुदाई चालू है। वहाँसे दो मन्दिर निकले हैं। इन मन्दिरोंकी शैली लगभग नौवी, दसवी शताब्दीके चोलकालकी है। तीर्थंकरों तथा अन्य जैन देवताओंकी बहुत सी मूर्तियाँ भी खुदाईमें निकली है। प्राप्त शिलालेखोंमें-से एक शिला लेख चोलराज राजराज प्रथमके समयका है। लगभग दसवी शताब्दीके एक अन्य [2]शिलालेखोंमें दयापाल और वादिराजके गुरु जैनाचार्य मतिसागरका निर्देश है।

मदुराके अवशेष—

मदुरा जिलेमें अन्य अवशेषोंके सिवाय तीन प्रकारके पुरातत्त्व विशेष रूपसे मिलते है—१ प्राकृतिक गुफाएँ और पहाड़ियाँ, जिनमे पत्थर काटकर शायिकाएँ

---

१ जै० सा० इ०, पृ० ५४।

२. मैन्युअल आफ पुद्दुकोट्टा स्टेट, जि० २, पृ० १०२२।

बनी हुई है और ब्राह्मी शिलालेख हैं। २ पत्थरोंमें खुदी हुई जैन देवताओं और गुरुओंकी आकृतियां। ३ तमिल भाषाके शिलालेख। यह पहले लिख आये हैं कि पाण्ड्य राजाओंकी सरक्षकतामें एक समय मदुरा जैन धर्मका प्रमुख केन्द्र था। बादको ब्राह्मण धर्मके प्रवाहमें उसके सभी उत्कृष्ट अवशेष विलीन हो गये या नष्ट कर दिये गये। मदुराके स्थलपुराण तथा तेवारम्के भजनोंके अनुसार मदुरा शहर तथा निकटमें स्थित अन्नैमलै (Ānaimalai), नागमलै, पशुमलै आदि पहाड़ियां जैन धर्मके दृढ़ प्रभावमें थीं और वहां जैन साधुओं और आचार्योंका निवास था। नीचेकी खोजोंसे उसका समर्थन होता है। मदुरा शहरसे थोड़ी दूरीपर तिरुपरनकुनरम् (Tiruparankunram) नामकी पहाड़ी है। वहां सरस्वती तीर्थके निकट एक ढालुआ पाषाणपर दो मूर्तियां सर्पफणोंके साथ अंकित हैं जो तीर्थंकर पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथकी हैं।

मदुरासे पूर्वमें लगभग छह मीलपर अन्नैमलै (Ānaimalai) पहाड़ी है। यद्यपि इस पहाड़ीको ब्राह्मण धर्मके आश्रय स्थानके रूपमें परिवर्तित कर दिया गया है तथापि अभी भी उस पहाड़ीपर जैन धर्मके बहुमूल्य अवशेष सुरक्षित हैं। एक प्राकृतिक गुफामें चट्टानपर जिन और उनके शासन देवताओंकी मूर्तियां अंकित हैं। मूर्तियां प्रभावक हैं। उन्हींमें एक मूर्ति यक्षिणीकी है। उसका दाहिना पैर नीचे लटका हुआ है और बायां पैर मोड़ा हुआ है। दाहिने हाथमें फल है और बायां हाथ गोदमें रखा हुआ है। यह महावीरकी यक्षिणी सिद्धायिका प्रतीत होती है।

इन मूर्तियोंके एक ओर तमिल भाषामें कुछ शिलालेख अंकित हैं। उनमेंसे एकमें अज्जनन्दि नामका उल्लेख है। गुफाको अभी भी लोग 'समणरकोविल' जैन साधुओंका मन्दिर कहते हैं। अतः अन्नैमलै अवश्य ही जैनोंका स्थान था।

मदुरासे उत्तर-पश्चिममें लगभग बारह मीलपर पहाड़ियोंकी एक श्रेणी है। उसे अलगरमलै (Alagarmalai) कहते हैं। उसपर एक विशाल गुफा है, उसमें शायिकाएं बनी हुई हैं और सिरहानेकी ओर ब्राह्मी लेख अंकित है। पासमें ही सिंहासनमें स्थित एक जैन साधुकी मूर्ति अंकित है। तमिल भाषाके शिलालेखमें उसे अज्जनन्दिकी कृति बतलाया है। सम्भवतया वह अज्जनन्दिके गुरुकी मूर्ति है।

इसी तरह पेरियकुलम् ताल्लुकेके उत्तम पाल्यम् (Uttamapālaiyam) नामक स्थानमें, तथा नीलक्कोटै (Nilakkottoi) ताल्लुकाके म्युटुपट्टी (Muitupatti) गांवके पासमें भी जैन पुरातत्त्वकी सामग्री पायी जाती है।

मदुरा ताल्लुकाके कीलक्कुडी (Kiḷakkudi) गांवके पास कुछ पहाड़ियां हैं। उन्हें उम्मणामलै (Ummaṇamalai) कहते हैं। उनपर एक गुफा है। उसे

सेट्टीपोडवु (Settipodavu) कहते हैं। उसके प्रवेशद्वारके ऊपर छतमें पांच मूर्तियां अंकित हैं और तमिल लेख भी हैं। इन मूर्तियोंमें प्रथम और अन्तिम मूर्ति अत्यन्त आकर्षक है। प्रथम मूर्ति स्त्री योद्धाकी है। वह शेरपर सवार है। उसके एक हाथमें खींचा हुआ धनुष है और दूसरेमें बाण है। शेष दो हाथोंमें भी अस्त्र हैं। शेर एक हाथीपर झपट रहा है। उस हाथीपर एक पुरुष सवार है उसके एक हाथमें तलवार और दूसरेमें ढाल है। उसके बादकी तीन मूर्तियां तीर्थंकरोंकी हैं। अन्तिम मूर्ति देवीकी है उसके दो हाथ हैं। एक हाथमें फल है दूसरा उसकी गोदमें रखा है। यह यक्षिणीकी मूर्ति है। प्रथम मूर्ति भी यक्षिणीकी ही होनी चाहिए।

गुफाके प्रवेशद्वारके बायीं ओर महावीर तीर्थंकरकी विशाल मूर्ति पत्थरमें खोदकर बनायी गयी है। पासमें तमिल लेख है। उसमें लिखा है कि अभिनन्दन भट्टारने मूर्तिका निर्माण कराया।

गुफासे ऊपर चढ़नेपर पहाड़ीकी चोटीपर पेच्चीपल्लम (Pechchipalḷeam) नामक स्थान है वहाँ तीन मूर्तियां पद्मासनमें और पांच मूर्तियाँ खड्गासनमें अंकित हैं। इन पाँच मूर्तियोंपर सर्पकी फणा अंकित है अतः ये सब तीर्थंकर पार्श्वनाथकी मूर्तियां हैं। इनके नीचे ६ शिलालेख तमिल भाषामें हैं। एकमें अज्जनन्दिकी माता गुणमातियारका निर्देश है। तीनमें कुरण्डीतिरुक्काटाम्बल्ली (Kuranḍitirukkattàmballi) आश्रमके अधिकारी गुणसेन देव गुरुका निर्देश है। तिरुमंगलम् ताल्लुकेमें कुप्पालनट्टम् (Kuppālanattam) के निकट पोयगइमलै (Poygaimalai) नामक पहाड़ी है। उसपर एक प्राकृतिक गुफा है। उसकी एक दीवारपर कुछ तीर्थंकरोंकी मूर्तियां अंकित हैं। ये ऊपर-नीचे तीन पंक्तियोंमें हैं। पहली पंक्तिमें चार मूर्तियां बैठी हुई आकृतिमें हैं। दूसरी पंक्तिमें तीन मूर्तियां खड़ी हुई आकृतिमें हैं। उसके नीचे एक मूर्ति खड़ी मुद्रामें अंकित है। इस गुफाको 'समणरकोविल' जैन साधुओंका मन्दिर कहते हैं। जनता इन मूर्तियोंको मक्खनसे पोतकर पूजती है। नीचे शिलालेख अंकित है।

मेलूर (Melūr) ताल्लुकेके कीलल्लवु (Kilallavu) ग्रामसे लगभग एक मीलपर पंचपाण्डव नामक पहाड़ी है। इस पहाड़ीके एक स्थानपर ६ जिन-मूर्तियां अंकित हैं। कुछ बैठी हुई हैं और कुछ खड़ी हैं। खड़ी मूर्तियोंके सिरपर साँपका फण अंकित है अत. वे पार्श्वनाथकी मूर्तियां हैं। उनकी दूसरी बाजूमें तीन जिन-मूर्तियां अंकित हैं। एकके नीचे शिलालेख भी है।

मेलूर ताल्लुकेके करुंगालक्कुडी (Kārungalakkudi) गाँवके निकट पंचपाण्डवर कुट्टु नामक पहाड़ी है। इनपर एक गुफा है उसमें शायिकाएँ बनी

हुई है और शिलालेख भी है। तथा एक जिनमूर्ति भी है। लेखमें लिखा है कि यह मूर्ति अज्जनन्दिने बनवायी।

पलनी (Palni) तालुकेके एवरमले (Aivarmalai) की प्राकृतिक गुफाके ऊपर अनेक शिलालेख प्राप्त हुए हैं। उनमें अज्जनन्दि, इन्द्रसेन, मल्लिषेण, पेरियार और पार्श्वपदारका उल्लेख है। पाण्डय नरेश वरगुणके राज्य कालके शक स० ७९२ (८२० ई०) के एक शिलालेखमें लिखा है कि गुणवीरक्कुरव-ड्डीगलके शिष्य शान्तिवीर गुरुवरने पार्श्व पदार (Padārar) की मूर्ति और यक्षिणीकी मूर्ति तिरुवायीरइ (Tiruvāyirai) में स्थापित की। पार्श्वपदारसे मतलब तीर्थंकर पार्श्वनाथसे है।

अज्जनन्दि

मदुरा प्रदेशके जैन पुरातत्त्वके अध्ययनमे जो अनेक विशेष बातें पाठकके मनको छूती हैं उनमें-से एक विशेष बात है अज्जनन्दिका व्यक्तित्व और तमिल देशमें जैन धर्मके अभ्युत्थानके लिए उनके द्वारा किये गये कार्य। अज्जनन्दि नाम आर्यनन्दिका प्राकृत रूप है। आर्यनन्दिने उत्तर आरकाट जिलेके वल्लीमलैकी ओर मदुरा जिलेके अन्नैमलै, ऐवरमले, अलगरमलै, करुगालक्कुडी और उत्तम पालयम्की चट्टानोपर जैन मूर्तियोका निर्माण कराया। आगे दक्षिणकी ओर बढनेपर तिन्नेवेल्ली जिलेके इरुवाडी (Eruvadi) स्थानमें भी जैन मूर्तियोका निर्माण कराया।

एक और भी विशेष रूपसे उल्लेखनीय बात यह है कि तमिलके एक दूरवर्ती कोनेमें उपलब्ध एक शिलालेखमें भी अज्जनन्दिकी वही स्थिति पायी जाती है। त्रावनकोर राज्यके चितराल नामक स्थानके निकट तिरुच्चाणट्टु (Tiru-chchanattu) नामकी पहाडी है। उसपर चट्टान काटकर उकेरी गयी आकृतियोकी बहुतायत है। ये सब जैन तीर्थंकरोकी मूर्तियाँ हैं और उनके नीचेके लेखमें लिखा है कि अज्जनन्दिने उनका निर्माण कराया। फिर भी ऊपरके विवरणसे अज्जनन्दिका मुख्य कार्यक्षेत्र मदुराका प्रदेश ही प्रमाणित होता है। अज्जनन्दिसे सम्बद्ध शिलालेखोसे उनके गुरु आदिके विषयमें कुछ ज्ञात नही होता किन्तु जैन धर्मके अनुयायियोमें उनकी स्थिति अत्यन्त आदरणीय प्रतीत होती है। उनके समयके सम्बन्धमें भी कोई स्पष्ट प्रमाण नही मिलता। किन्तु उनसे सम्बद्ध शिलालेखोकी स्थितिका अध्ययन करनेसे उनका समय ८वीं और ९वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। तत्कालीन परिस्थितिका विचार करनेपर तमिल देशके जैन धर्मके इतिहासमें अज्जनन्दिका वास्तविक स्थान आँका जा सकता है

यह पहले लिख आये है कि ७वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें और उसके बाद तमिल देशमें जैन धर्मके अनुयायियोके विरुद्ध एक भयानक वातावरण उठा। उसके फलस्वरूप जैन धर्मका प्रभाव और सम्मान क्षीण हो गया। ऐसे समयमें अज्जनन्दि आगे आये। उन्होने समस्त देशमें भ्रमण करके जैनधर्मके प्रभावको पुन. स्थापित करनेके लिए जगह-जगह जैन तीर्थकरोकी मूर्तियाँ अकित करायीं। अस्तु,

दक्षिणकी ओर आगे बढनेपर हम एक अन्य पहाडीपर पहुँचते हैं जो एक समय जैन धर्मका प्रमुख स्थान थी। यह तिन्नेवेल्ली जिलेके कोयल पट्टी (Koilpatti) ताल्लुकेके कल्युगुमलै (Kalaogumalai) नामक गाँवके निकट है। इस पहाडीपर भी प्राकृतिक गुफाएं हैं। उनमे शायिकाएं बनी हैं और ब्राह्मी लेख हैं। उनसे पता चलता है कि ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी-जैसे प्राचीन समयमें यहाँ साधुओका निवास था। बादको उत्तर कालमें जैनोकी तरह ब्राह्मणोको भी इस स्थानने आकृष्ट किया और उन्होने भी अपने देवताओके मन्दिरो और मूर्तियोका निर्माण कराया। किन्तु जैन मूर्ति कला ऊँचे दरजेकी है और ऊँची पहाडियोकी चिकनी सतहपर उकेरी हुई है। उनकी सख्या लगभग सौ है। उनमें महावीर तथा अन्य तीर्थंकरोकी, यक्षिणियोकी और बाहुबली आदिकी मूर्तियाँ है। वे बारीकीसे अध्ययन करनेके योग्य है।

श्री पी० बी० देसाईने तमिल देशमें जैन धर्मके प्रचलित रूपमें यक्षिणीको जो प्राधान्य दिया गया उसे बतलानेके लिए उनमें-से दो यक्षिणी मूर्तियोका विवरण इस प्रकार दिया है—

जिनोकी छोटी-छोटी आकृतियोकी तीन पक्तियोकी बायीं ओर एक अच्छे बडे आलेमें एक यक्षिणीकी मूर्ति है। वह बीचमें खडी हुई है। उसके सिरपर मुकुट और कानोमें आभूषण है। उसके दो हाथ है। उसका दाहिना हाथ एक बच्चीके सिरपर रखा हुआ है। बायें हाथमें फल है जो आम प्रतीत होता है। उसकी बायीं ओर एक शेर खडा है। और शेरके आगे दो बालक खडे हैं। यह नेमिनाथ तीर्थकरकी यक्षिणी अम्बिका होनी चाहिए। उसके नीचे महावीर तीर्थंकरकी मूर्ति स्थित है। उसमे यक्षिणीकी मूर्ति अधिक विशाल और प्रभावक है।

ऊपर निर्दिष्ट जिन मूर्तियोकी तीन पक्तियोके दाहिनी ओर एक बडे आलेमें महावीरकी मूर्ति है। उसके दाहिनी ओर एक छोटे आलेमें दो जिन-मूर्तियाँ स्थित हैं। उसके नीचे उसी आकारके एक दूसरे आलेमें यक्षिणीकी मूर्ति है। वह कमलासनपर बैठी है। उसका दाहिना पैर मोडकर उसीपर रखा हुआ है और बायाँ पैर नीचे लटका हुआ है। सिरके चारो ओर सर्पफणका प्रभामण्डल है।[1]

---

१. जै० सा० इ०, पृ० ६४–६५।

चार हाथ हैं। दाहिनी ओरके ऊपरवाले हाथमें सर्प है। नीचेवाले हाथमें फल है। बायीं ओरके ऊपरवाले हाथमें अंकुशके जैसी कोई वस्तु है, नीचेवाला हाथ किसी वस्तुके साथ गोदमें रखा हुआ है। दो सेविकाएँ चमर लिये हुए दोनों ओर खडी हुई हैं। यह पार्श्वनाथ तीर्थंकरकी यक्षिणी पद्मावती होनी चाहिए।

कल्युगुमलै पहाडीपर चट्टानोंको काटकर बनायी गयी मूर्तियाँ तमिल देशमें जैन धर्मके अनुयायियोंके धार्मिक उत्साह और कला प्रेमकी परिचायक हैं। दक्षिण भारतमें जैन संस्कृतिका यह अनुपम स्मारक है।

इन सभी मूर्तियोंके नीचे शिलालेख भी हैं। वे लेबुल-सरीखे हैं जिसमें मूर्ति-निर्माताका नाम अंकित है। वे मूर्ति-निर्माता विभिन्न स्थानोंके निवासी थे। इससे पता चलता है कि यह स्थान जैन धर्मका एक प्रसिद्ध केन्द्र था। शिलालेखोंमें अनेक जैन गुरुओं और आर्यिकाओंके नामोंका उल्लेख है। आर्यिकाओंके नामोंकी संख्या बहुत अधिक है और दाताओंकी तरह वे भी विभिन्न स्थानों और विभिन्न प्रदेशोंकी निवासी थीं। उनके नामके साथ उनके स्थानोंका नाम भी शिलालेखोंमें[1] अंकित है। किसी भी लेखमें समयका निर्देश नहीं है। फिर भी शिलालेखोंकी पद्धति आदिसे उनका समय १०वीं या ११वीं शताब्दी प्रतीत होता है।

विगत ट्रावनकोर स्टेटके दक्षिण विभागमें विलवंगोद (Vilavangod) ताल्लुकेमें चित्रालके निकट एक पहाडी है उसे तिरुच्चाणट्टुमलै (Tiruchchānattumalai) कहते हैं। प्राचीन शिलालेखोंमें पाये जानेवाले तिरुच्चारणट्टुमलै नामका यह भ्रष्ट रूप है। उसका अर्थ होता है— चारणोंकी पवित्र पहाडी। जैन धर्ममें चारण ऋद्धिके धारी साधुओंको चारण कहते हैं। उन्हींसे सम्बन्धित होनेसे इस पहाडीको उक्त नाम दिया गया है।

पहाडीके ऊपर एक प्राकृतिक गुफा है। उसे मन्दिरके रूपमें परिवर्तित कर दिया गया है। उसे भगवतीका मन्दिर कहते हैं और वह ब्राह्मणोंके अधिकारमें है। किन्तु भगवतीके नामसे जो मूर्तियाँ पूजी जाती हैं उनकी सूक्ष्म छानबीन करनेसे यह आश्चर्यजनक परिणाम निकलता है कि वे मूर्तियाँ महावीर या पार्श्वनाथ जैसे किसी जैन तीर्थंकरकी हैं। इससे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि यह स्थान मूलमें जैनोंका था। बादको इसे हिन्दुओंने अपने अधिकारमें कर[2] लिया।

ऊँची चट्टानोंपर अंकित जैन मूर्तियोंसे भी उक्त परिणामका समर्थन होता है ये मूर्तियाँ दो पंक्तियोंमें है। ऊपरकी पंक्तिमें लगभग एक दर्जन छोटी-छोटी जैन

१ वही, पृ० ६७।
२. जै० सा० इ०, पृ० ६८।

मूर्तियाँ अंकित हैं। सब बैठी हुई है और उनके सिरपर तीन छत्र हैं। उनके नीचे दूसरी पंक्तिमें बडे आकारकी लगभग आधा दर्जन मूर्तियाँ विभिन्न देवताओंकी हैं जो ध्यान देने योग्य हैं। ठीक दक्षिणमें बैठी हुई अन्तिम मूर्ति नेमिनाथकी प्रतीत होती है। बायीं ओर खडी हुई मूर्ति पार्श्वनाथकी है। पार्श्वनाथके बायी ओर एक स्त्री मूर्ति खडी हुई है। वह पद्मावती हो सकती है। बायी ओर थोडी दूरपर महावीरकी बैठी हुई मूर्ति है। उसके बायी ओर अन्तिम खडी हुई मूर्ति एक स्त्रीकी है उसके दो हाथ हैं। दाहिना हाथ वरदानकी स्थितिमें है और बायाँ हाथ लटका हुआ है। उसकी दाहिनी ओर एक शेर खडा है। बायीं ओर छोटे आकारके दो बच्चे खडे हैं। इस यक्षिणी मूर्तिको जिनकी मूर्तिसे महत्त्व दिया गया है। यह हम अन्यत्र भी देख चुके हैं कि तमिल देशमें इस प्रकारकी प्रवृत्ति रही है।

मूर्तियोंके नीचे तमिल भाषाके लेख अंकित हैं। मूर्तिकी कला तथा लेखोंकी शैलीके अध्ययनसे उनका समय नौवी-दसवीं शताब्दी अनुमान किया जाता है।

विगत त्रावनकोर राज्यके एकदम दक्षिण कोनेमें नागरकोयिल नामका एक कस्बा है। यहाँ आजकल नागराज स्वामी नामका एक मन्दिर है जो हिन्दुओंके अधिकारमें है। तथापि उसमें महावीर, पार्श्वनाथ, पद्मावती आदि जैन देवताओं-की आधी दर्जन मूर्तियाँ है जो मण्डपके स्तम्भोपर उत्कीर्ण है। इससे अनुमान होता है कि मूलमें यह जैन मन्दिर था। एक शिलालेखसे भी इसका समर्थन होता है। यह शिलालेख १५२१ ई० का है। इसमें त्रावनकोरके राजा भूतलवीर उदयमार्तण्ड वर्माके द्वारा मन्दिरके दो पुजारियोंको जिनका नाम कमलवाहन पण्डित और गुणवीर पण्डित था, भूमिदान देनेका उल्लेख है। नामसे ये दोनों पण्डित जैन प्रतीत होते हैं। भूमिका नाम 'पल्लिच्चछन्दम्' भी जैनत्वका ही समर्थन करता है। पार्श्वनाथकी मूर्तिके सिरपर सर्पके पाँच फण अंकित है। सम्भव है ये ही सर्प उत्तरकालमें नागराज स्वामीके रूपमें पूजे जाने लगे। मन्दिरके पासमे एक समय जैनोंकी वस्ती होनेके भी चिह्न मिलते है।

उक्त संक्षिप्त विवरणमें त्रिचनापल्ली तथा अन्य जिलोंके और पुदुकोट्टै तथा त्रावनकोर प्रदेशोंके अन्तर्गत पाये जानेवाले ऐसे बहुत से स्थान छूट गये हैं जो एक समय जैन धर्मके केन्द्र थे और जहाँ जैन अवशेषोंकी बहुतायत है। यहाँ तो तमिल देशमें जैन धर्मकी प्राचीन स्थितिसे सम्बद्ध प्रमुख तथ्योंको सम्मुख रखनेका प्रयत्न मात्र किया गया है।



५. कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ

पूर्वमें तमिल देशमें जैन धर्मके उपलब्ध अवशेषोंका जो परिचय दिया गया है उसके आधारपर इस प्रकरणमें तमिल देशमें जैन धर्मकी कुछ उल्लेखनीय विशेषताओंपर विशेष प्रकाश डाला जाता है।

यह हम देख चुके हैं कि जैन धर्मके प्राचीन अवशेष अधिकतर पहाड़ियोंपर ही पाये गये हैं। यह बात अन्य धर्मोंमें कम देखी जाती है। इसका कारण यह है कि जैन साधु नगरवासी नहीं होते थे। उन्हें नगरोंके बाहरका जीवन पसन्द था। इसीसे वे पहाड़ोंकी गुफाएँ या रमणीक उपत्यकाएँ विशेष पसन्द करते थे और जनकोलाहलसे दूर प्रशान्त पर्वतोंकी प्राकृतिक गुफाओंमें अपना आवास बनाते थे। उन्हींके निमित्तसे वे स्थान गृहस्थोंके द्वारा पूज्य माने जाते थे और वहाँ मन्दिरों, मूर्तियों आदिका निर्माण किया जाता था तथा उनकी पूजा आदिके निमित्तसे दान दिया जाता था और उन दानोंका उल्लेख शिलालेखों आदिमें किया जाता था। ऐसे स्थानोंमें आनन्दमगलम्के निकटकी पहाड़ीपर वर्तमान मूर्तियाँ, पचपाण्डवमलैकी जिन मूर्तियाँ तथा यक्षी, वल्लीमलैपर पश्चिमी गगनरेश राजमल्लके द्वारा स्थापित गुफामन्दिर, मदुरा प्रदेशकी तिरुमलै, अरैमलै, तथा अन्य पहाड़ियोंपर स्थित मन्दिर और मूर्तियाँ, कलुगुमलैकी अनुपम मूर्तिकला और तिरुच्चारणम् पहाड़ीकी चट्टानोंपर अंकित प्राचीन मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। इस दृष्टिसे चित्तामूरके मल्लिनाथ तथा पार्श्वनाथके मन्दिर भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

यक्षी संस्कृति

इन सबसे भी विशेष रूपसे उल्लेखनीय है तमिलदेशीय जैन धर्ममें यक्षी-संस्कृतिका सार्वजनिक महत्त्व। जैन धर्ममें यक्षी या यक्षिणीका स्थान एक पराधीन सेवक तुल्य है और उसका कारण यह है कि उसे जिनदेवका सेवक माना गया है। अतः धार्मिक और जैन मूर्तिकलाकी दृष्टिसे उसे एक स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्य नहीं है। किन्तु मूर्तिकला सम्बन्धी और शिलालेख सम्बन्धी अनेक प्रमाण इस बातके साक्षी हैं कि तमिल देशमें यक्षिणीको एक स्वतन्त्र पद प्राप्त था और उसकी स्थिति जिनेन्द्रके तुल्य मानी जाती थी। इतना

ही नही, किन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें यक्षिणीकी स्थिति जिनदेवसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बना दी गयी और यक्षिणीके महत्त्वके सामने जिनदेवका महत्त्व घटा दिया गया किन्तु जैन धर्मके इतिहासमें यह स्थिति सर्वथा अपूर्व नहीं है। इसमें कोई सन्देह नही है कि जैन धर्मके उत्तरकालीन इतिहासमें दक्षिण भारतके अन्य प्रदेशोमें भी जैन धर्ममें सार्वजनिक रूपमें यक्षिणीका स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। किन्तु यह स्थिति केवल एक या दो देवताओको ही प्राप्य रही है। उनमें-से एक तो पार्श्वनाथकी यक्षिणी पद्मावती है। कर्नाटकमें उसे मुख्य देवताकी वेदीमें विराजमान करके पूजा जाता था। उदाहरणके लिए मैसूर प्रदेशके पोमबुच्चपुरकी[1] पद्मावतीका नाम दिया जा सकता है।

किन्तु तमिल देशकी यक्षी सस्कृतिका अपना एक स्वतन्त्र इतिहास है। उसके उदय और उत्थानके सम्बन्धमें नीचे लिखे आकर्षक तथ्य उल्लेखनीय हैं—

१. शिलप्पदिकारम्के सकेतके अनुसार यद्यपि तमिल देशमे यक्षी सस्कृतिका उदयकाल दूसरी शताब्दी सम्भव है तथापि उसके सम्बन्धमें शिलालेख सम्बन्धी प्रमाण ८वी शताब्दीसे मिलते हैं। शिलप्पदिकारम् तथा सगमकालके अन्य ग्रन्थोसे यह ज्ञात होता है कि तमिलदेशमे प्रारम्भमें ही जैन धर्मको शैव धर्म और वैष्णव धर्मका सामना करना पडा है। इन धर्मोमें पार्वती और लक्ष्मीकी पूजाको महत्त्व दिया गया है और ये दोनो क्रमश· शिव और विष्णुकी अर्धांगिनी हैं। जैन तीर्थंकरोके साथ कोई स्त्री प्रतिरूप सम्बद्ध नहीं है। अतः जैन धर्मके प्रचारक गुरुओको हिन्दूधर्मकी प्रतिस्पर्द्धामें अपने धर्मको सर्वजनप्रिय बनानेमें कठिनाईका अनुभव अवश्य हुआ होगा। अतः जनसाधारणके भक्त हृदयोंको आकृष्ट करनेके लिए उन्हे अपने धर्ममे यक्षी पूजाको एक उच्च स्थान देनेके लिए विवश होना पडा। इससे तमिल देशमें सुदीर्घकाल तक जैन धर्मका प्रभाव और लोकप्रियता बनी रही।

२ जैन मूर्तियोंके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि यक्षीको प्रधानता देनेके लिए प्रथम तो उसे जिनमूर्तिके बराबरमें बैठाया गया, दूसरे उसे सज्जित करके जिनमूर्तिकी दाहिनी ओर बैठाया गया, तीसरे उसे दयालु प्रदर्शित करनेके लिए एक ओर उसके हाथमें फल तथा बालक दिखलाये गये और दूसरी ओर उसे भयानक दिखलानेके लिए उसके दूसरे हाथोमें अस्त्र-शस्त्र

---

१ पद्मावती सान्तरके प्रधानकी रक्षक देवता थी। उसीकी कृपासे जिनदत्तने पोमबुच्चपुरमें सान्तर वशकी स्थापना की थी। यह घटना लगभग नौवीं शती की है। किन्तु जिन शिलालेखोंसे उक्त घटनाकी सूचना मिलती है वे ११वीं शताब्दी और उसके बादके है।—जै, सा इ. पृ ७२

दिये गये। ये सब बातें ऊपर निर्दिष्ट यक्षी मूर्तियोमें देखी जा सकती हैं। उन्हीके आधारपर यहाँ उक्त अनुमान किये गये हैं। कुछ स्थानोमे यक्षी मूर्तिको पृथक् वेदिकामें और पृथक् मन्दिरमे बैठाया गया है और शिलालेखोमें उनकी पूजाके लिए दान देनेका उल्लेख मिलता है।

श्री पी बी[1] देसाईने प्राप्त यक्षी मूर्तियोका अध्ययन करके लिखा है कि तमिलमें नेमिनाथ तीर्थंकरकी यक्षिणी अम्बिकाको सबसे उत्कृष्ट स्थान प्राप्त था। उसके बाद दूसरा नम्बर महावीरकी यक्षिणी सिद्धायिकाको प्राप्त था। किन्तु प्रारम्भमें पद्मावतीका वह स्थान नहीं था।

ज्वालामालिनी देवी संस्कृति

ज्वालामालिनी भी यक्षिणी है किन्तु उसका तन्त्र-मन्त्रके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके आविष्कारक पोन्नूरके हेलाचार्यको कहा जाता है। उस समय जादू-टोने और तन्त्र मन्त्रमें जनसाधारणका विश्वास विशेष पाया जाता था। और अन्य धर्मोके आचार्य उनके अभ्यासी होते थे। सम्भवतया इसीसे जैन साधुओ और आचार्योका ध्यान भी उस ओर गया और उन्होंने मन्त्र-तन्त्रकी विद्यामें भी दक्षता प्राप्त की। इस विद्यामें निपुणता उस समयके जैन गुरुओकी एक विशेषता मानी जाती थी। और वे अपने नामके साथ मन्त्रवादी विशेषणका प्रयोग करनेमें गौरव अनुभव करते थे। श्रवणबेळगोळके[2] कुछ शिलालेखोमें कुछ आचार्योके नामोके साथ इस प्रकारके विशेषण पाये जाते हैं।

जैन साधुओंकी कर्तव्यशीलता

तमिल देशके कोने कोनेमें जैन धर्मके सिद्धान्तोके प्रचारका श्रेय कर्तव्यशील जैन साधुओको है जिन्होने अपने निर्दोष आचार तथा अविच्छिन्न सदुपदेशोके द्वारा साधारण जनता और विशिष्ट वर्गको आकृष्ट किया। तमिलसे प्राप्त शिलालेखोमें निर्दिष्ट ऐसे साधुओकी सख्या बहुत बडी है। और जिनका नामोल्लेख नहीं किया गया ऐसे साधुओकी सख्या तो उनसे भी कई गुनी होनी चाहिए। शिलालेखोमें निर्दिष्ट उल्लेखोसे ज्ञात होता है कि उन साधुओका बहुभाग विभिन्न धर्मस्थानो, शिक्षा सस्थानो और साधु निवासस्थानोसे सम्बद्ध था। कुछ शिलालेखोमें उनकी गुरु परम्परा भी दी है। इस प्रकारकी सूचनाओसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सात्रु विभिन्न साधुमघोसे सम्बद्ध थे।

---

१ जै० मा० इ०, पृ० ७३-७४।
२ जैन शिलालेख सग्रह भाग १।

जैन साधु वर्ग अनेक संघों, गणों और गच्छोंमें विभाजित था। किसी साधुके परिचयमें उसके संघ गण और गच्छका निर्देश करनेकी आम प्रथा थी। किन्तु तमिल देशके शिलालेखोंमें किसी साधुके साथ उसके गण गच्छ आदिका निर्देश नहीं मिलता, यह एक विचित्र बात है। इतना ही नहीं, किन्तु इसी देशमें कुन्दकुन्द और वज्रनन्दिके द्वारा स्थापित माने जानेवाले मूलसंघ और द्रविड संघका निर्देश भी किसी शिलालेखमें नहीं मिलता। इसके विपरीत मैसूर प्रदेशसे प्राप्त शिलालेखोंमें द्रविड संघके आचार्योंका निर्देश गण और गच्छके साथ मिलता है।

आर्यिका संघ

तमिल देशीय जैन धर्मकी एक उल्लेखनीय विशेषता आर्यिकाओं या जैन साध्वियोंकी संस्थाका होना भी है। वे साध्वियाँ भी साधुओंकी तरह सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियोंमें प्रमुख भाग लेती थीं। वे अपने अनुयायी गृहस्थोंका नियमन करती थीं और वसतिकाओंके प्रमुखके रूपमें सम्मानास्पद होती थीं।

कर्नाटकके शिलालेखोंमें जैन धर्मकी अनुयायी गृहस्थ स्त्रियोंके और गृहस्थाश्रमको छोड़कर साध्वीकी दीक्षा लेनेवाली स्त्रियोंके उल्लेख मिलते हैं। प्रत्येक धर्ममें उसकी अनुयायी स्त्रियाँ रहती ही हैं। किन्तु तमिल देशके शिलालेखोंसे ऐसी स्त्रियोंकी भी सूचना मिलती है जो न केवल गृहस्थ रूपमें या साध्वीके रूपमें जैन धर्मकी अनुयायी मात्र थीं, बल्कि गुरु और आचार्य रूपमें धार्मिक प्रवृत्तियोंका संचालन भी करती थीं। शिलालेखोंमें निर्दिष्ट इस प्रकारकी धर्माधिकारी स्त्रियोंके उत्तराधिकारियोंकी लम्बी सूचीसे यह मानना पड़ता है कि तमिल प्रदेशमें साध्वियोंकी भी अपनी संस्थाएँ थीं और उनमें से कुछको प्रधान धर्माधिकारीका पद प्राप्त[1] था। ऐसी साध्वियोंको कुरट्टियार कहते थे। ये कुरट्टियार, श्राविकाओं, आर्यिकाओं या साध्वियोंसे भिन्न होती थीं। इनके सम्बन्धमें विशेष अनुसन्धानकी आवश्यकता है।



१. जै० सा० इ०, पृ० ७७।

६. राजकीय संरक्षण

जैन धर्मको इस बातका गौरव हो सकता है कि उसे तमिल देशके प्रमुख राजवंशोंके अनेक राजाओं और रानियोंसे संरक्षण और सम्पोषण प्राप्त हुआ था। पल्लव राजवंशमें महेन्द्रराजवर्मा प्रथमका नाम उल्लेखनीय है। वह जैन धर्मका भक्त था। तिरुमलैके एक शिलालेखमें पल्लव घरानेकी एक स्त्रीका उल्लेख है जो जिनदेवकी भक्त थी। पल्लवनरेश विजयकम्पवर्माके एक शिलालेखमें एक जैन संस्थाको दानका उल्लेख है। मदुराके पाण्ड्य राज्य घरानेके शासकोंकी जिन धर्मके प्रति भक्तिका निर्देश पूर्वमें कर आये हैं। कल्युगुमलैके दो शिलालेखोंमें पाण्ड्यवंशके एक राजा मारन सदैयनका निर्देश है। चारणमलै पहाडीके पट्टिनी भट्टारके शिष्य वरगुणन्ने उस पहाडीपर एक जैन मूर्ति बनवायी थी, सम्भवतया वह भी पाण्ड्य राजवंशका ही सदस्य था।

महान् चोल राजवंशके शासकोंकी जैन समाज और जैन धर्मके प्रति गहरी आस्थाको बतलानेवाले अनेक निर्देश मिलते हैं। चोल शासनपद्धतिमें हमें ऐसे गाँवोंके उल्लेख मिलते हैं जिनमें जैनधर्मके अनुयायी रहते थे और वे ही उनका प्रबन्ध करते थे। इस प्रकारके जैन ग्रामों और ब्राह्मण धर्मके अनुयायियोंके ग्रामोंमें कोई भेद-भाव नहीं बरता जाता था। इन जैन ग्रामोंके विशेष अधिकारोंकी सुरक्षा राजकीय आदेशोंके द्वारा की जाती थी। राजकीय घोषणाओंमें जैन ग्रामों और दान सम्बन्धी बातोंका विशिष्ट रूपसे निर्देश पाया जाता है। हम देख चुके हैं कि राजराज प्रथमकी बडी बहनने राज्यके विभिन्न भागोंमें अनेक जैन मन्दिरोंका निर्माण कराकर किस प्रकार जैन धर्मकी उज्ज्वल कीर्तिको विस्तृत किया था।

इस बातके प्रमाण हैं कि चोलवंशके सामन्तोंमें-से कुछ सामन्त जैन धर्मके उत्साही अनुयायी थे। उनमें लाटराज वीर चोल और उसकी रानी लाट महादेवीके नाम उल्लेखनीय हैं। पचपाण्डवमलैके एक शिलालेखमें तिरुपनमलैके देवताको उनके द्वारा दान दिये जानेका उल्लेख है।

---

१ जै० सा० इ० पृ० ७८।

तिरुमलैके एक शिलालेखमें लिखा है कि एक चेर प्रमुखका कुटुम्ब कई पीढियो तक जैन धर्मका अनुयायी रहा है। विडुगाडलगीयपेरुमालके कार्य विवरणसे पता चलता है कि उसने पवित्र पहाडीपर जिन यक्ष और यक्षिणीकी मूर्तियोका पुनरुद्धार किया वे मूर्तियाँ उन्हींके पूर्वज इलिनिने स्थापित की थी। राजकीय अधिकारियोकी ओरसे भी जैन धर्मको सरक्षण मिला।

पल्लिचन्दम्—

तमिल देशके शिलालेखोमें प्राय. पल्लिचन्दम् शब्द मिलता है। श्री पी० बी० देसाईने लिखा[1] है कि 'पल्लि' शब्द जैन मन्दिर या जैन मठ या जैन संस्थाका सूचक है। और चन्दम् 'चोन्दम्' का सरल रूप है। यह सस्कृतके 'स्वतन्त्र' शब्दसे बना है। अत. पल्लिचन्दम्का अर्थ होता है—जिसपर केवल जैन मन्दिर वगैरहका स्वामित्व हो, ऐसे जमीन, गाँव वगैरह।

पल्लिचन्दम्का सबसे प्राचीन उल्लेख पल्लवनरेश विजयकम्पवर्माके राज्य-कालके एक शिलालेखमें मिलता है जो लगभग नौवी शताब्दीका है। चोलराज्य-के शिलालेखोमें और मोटे तौरपर लगभग नौवी शताब्दीसे लेकर तेरहवी शताब्दी तकके पाण्डच राजाओके शिलालेखोमें पल्लिचन्दम्का उल्लेख बहुतायतसे पाया जाता है। जैसे हिन्दू देवताओके निमित्तसे दिया गया दान देवदान कहा जाता है कुछ वैसा ही भाव 'पल्लिचन्दम्' से सम्बद्ध है।

जैन धर्मकी लोकप्रियता

एक ओरसे दूसरे छोर तक देशके समस्त भागोमे जैन पुरातत्वकी बडे परिमाणमें उपलब्धि, तमिल साहित्यमें उच्चकोटिकी जैन रचनाओकी अव-स्थिति, और राजासे लेकर साधारण जन तक प्रत्येक प्रकारके मनुष्योके द्वारा जैन देवताओ और जैन गुरुओकी मान्यता। ये तथ्य बतलाते हैं कि एक समय तमिल देशमें जैन धर्म कितना लोकप्रिय था। इस लोकप्रियताका आधार राज-वशो और राज्यके उच्च अधिकारियोके द्वारा प्राप्त सरक्षण मात्र नही था, किन्तु जन साधारणकी उस धर्मके सिद्धान्तोके प्रति अन्तःप्रेरित अभिरुचि और श्रद्धा थी।

शिलालेखोसे इस बातके सकेत मिलते हैं कि जैन साधु और साध्वियाँ सामा-जिक कार्यकर्ता और धार्मिक गुरुके रूपमें जनताके निकट सम्पर्कमें आते थे और

१ तमिल शब्द पल्लिकुट्टम्का अर्थ है स्कूल। सम्भवतया यह रूप 'पल्लि' से लिया गया है। प्राचीन कालमें स्कूल मन्दिर या मठोंसे सम्बद्ध होते थे। तथा जैनाचार्य अपने ज्ञान तथा शैक्षण प्रवृत्तियोंके लिए प्रसिद्ध थे। कन्नड़में भी स्कूलको मठ कहते है, जिसका मूल अर्थ साधुओंका निवासस्थान था। जै० सा० इ० पृ० ७६।

जनता बडे आदर और प्रेमसे उन्हें अपनाती थी। शिलालेखोंमें जिस ढंगसे उनका उल्लेख मिलता है उससे ही उक्त तथ्यपर प्रकाश पडता है।

शिलालेखोमें जैन गुरुओका उल्लेख उनकी पदमर्यादाके नियमानुसार नहीं पाया जाता। किन्तु पुकारनेके चालू नामसे और कहीं-कही तो केवल उपनामसे उल्लेख पाया जाता है। गुणवीर, मामुनिवर, अरिट्टनेमि, पेरियार, कनकवीर, पेरियाडिगल् जैसे नामोंमें यद्यपि कोई विशेषता प्रतीत नही होती, किन्तु मामुनिवर, पेरियार और पोरियाडिगल् आदर और प्रेमके सूचक हैं। मौनी भट्टार, पट्टिनि भट्टार, पट्टिनि कुरट्टी अडिगल् और पट्टिनि कुरट्टियार ये वास्तविक नाम नहीं है, किन्तु मौन, उपवास आदि अपने जिन-जिन विशेष आचरणोंके कारण वे जनतामें प्रसिद्ध थे उन आचरणोकी सूचक उपाधियाँ है। इसी तरह पिच्चइ कुरट्टी भी उपनाम है। 'पिच्चइ'का अर्थ होता है भिक्षावृत्ति। भिक्षावृत्तिपूर्वक जीवन यापन करनेके कारण यह उपनाम दिया गया है।

इसी प्रसंगमें जैन पुरातत्त्वोसे युक्त स्थानोंके नाम समणरमलै, समणरकोविल, समणर कुडगु आदि भी उल्लेखनीय हैं। समण जैन साधुको कहते थे। ये नाम आज भी प्रचलित हैं यद्यपि उन स्थानोको नष्ट भ्रष्ट हुए शताब्दियाँ बीत गयीं और अडोस-पडोसमे इस नामके उपयुक्त कोई भी जैन नही पाया जाता।

इस प्रदेशमें अन्य धर्मोका प्राधान्य बढनेपर जैन धर्मका प्रभाव घटता गया। और उसके अनुयायी या तो अन्य स्थानोमें चले गये या उन्होने अपना धर्म परिवर्तन कर लिया। कुछ जैन स्थान अन्य देव स्थानोके रूपमें आज भी पूजे जाते हैं। श्री पी० बी० देसाईने लिखा[1] है कि त्रावनकोर प्रदेशके तिरुच्चाणट्टु मलै नामक स्थानमें भगवतीका मन्दिर है। उसमें महावीरकी मूर्ति भगवतीके नामसे पूजी जाती है। मदुरा जिलेमें कुप्पालनट्टम्के निकट पोयगइमलै पहाडीपर प्राकृतिक गुफामें चट्टान काटकर बनायी गयी मूर्तियाँ भी अन्य देवता रूपमें पूजी जाती हैं। चोलवाण्डीपुरम्में पद्मावतीकी मूर्ति कालियम्माके रूपमें पूजी जाती है। कोयम्बटूर जिलेमें अन्नैमलै पहाडीकी उपत्यकामें त्रिमूर्ति कोइल या ट्रिनिटीका मन्दिर है। यह ट्रिनिटी एक पाषाणपर अंकित जिन-प्रतिमा है जिसके दोनो ओर दो यक्ष हैं। मूर्तिके निकटवर्ती शिलालेखमें इसे अमणेश्वर स्वामी लिखा है। और उसके आस-पासके प्रदेशको 'अमणसमुद्रम्' कहते है। यहाँ अमणेश्वर स्वामीका मतलब स्पष्ट ही जिन मूर्तिसे है क्योकि श्रमणका ही भ्रष्ट रूप अमण हो गया है। किन्तु उसे हिन्दू देवता ट्रिनिटी माना जाता है और हिन्दू जनता बडी भक्तिसे उसे पूजती है।

■

१ जै० सा० इ०, पृ० ८१।

७. जैन तमिल साहित्य

तमिल साहित्य सम्बन्धी तीन संगमोके विषयमें पहले लिख आये हैं। जैन ग्रन्थकारोने प्रारम्भसे ही तमिल देशकी साहित्यिक प्रवृत्तियोमे भाग लिया था। ऐसा भी मत है कि सगम नाम तथा उसकी रचना तमिल देशमें जैन धर्मके प्रस्थापक जैनाचार्योंकी ही देन है क्योकि जैन धर्मकी साधु सस्था सघ, गण आदिके रूपमें प्रारम्भसे ही बडी सुव्यवस्थित थी। उसी अनुभवका उपयोग जैनाचार्योंने सगमकी रचनामें किया। सघ और सगम नामोमें भी साम्य है।

तोलकाप्पियम्

यह तमिल भाषाका सबसे प्राचीन व्याकरण ग्रन्थ है। यह एक जैन विद्वान् की रचना माना जाता है। यद्यपि इस विषयमें कुछ विद्वानोका विवाद है। डा० बर्नेलका मत है कि तोलकाप्पियम्का रचयिता जैन या बौद्ध था। एस० वायपुरी पिल्ले-जैसे विद्वानोका अनुमान है कि वह जैन था। इस ग्रन्थमें तत्कालीन ग्रन्थकार पनपारनार लिखित भूमिका है। उसी भूमिकामें तोलकाप्पियम्-का उल्लेख महान् और प्रख्यात पाडिमयोनके रूपमें है। टीकाकारने पाडिमयोन का अर्थ किया है—वह व्यक्ति जो तपस्या करता है।

इस ग्रन्थमें ३ बडे अध्याय और प्रत्येक अध्यायमें ९ विभाग हैं। मरवियल विभागमें तोलकाप्पियम्ने घास और वृक्षके समान जीवोंको एकेन्द्रिय, घोघेके समान जीवोको दोइन्द्रिय, चीटीके समान जीवोको त्रीइन्द्रिय, केकडेके समान जीवोको चोइन्द्रिय, बडे प्राणियोके समान जीवोको पचेन्द्रिय और मनुष्यके समान जीवोको छ इन्द्रिय कहा है। जीवोका यह विभाग सभी जैन ग्रन्थोमें पाया जाता है।

परम्पराके अनुसार यह तमिल भाषाके व्याकरणका महान् ग्रन्थ द्वितीय सगमकालका कहा जाता है तथा विद्यमान सब ही तमिल ग्रन्थ अन्तिम तथा तृतीय सगमकालके कहे जाते हैं अत इस तोलकाप्पियम्को लगभग सम्पूर्ण उपलब्ध तमिल साहित्यका पूर्ववर्ती माना जाता है। यद्यपि यह व्याकरण ग्रन्थ है किन्तु आदि तमिलवासियोकी समाजविषयक बातोकी खान है अतः अन्वेषक विद्वान् आदि तमिलवासियोके व्यवहारो और रिवाजोकी जानकारीके लिए मुख्यरूपसे इसी ग्रन्थपर अवलम्बित रहते हैं।

कुरल—

तमिल भाषी जनतामें प्रचारकी दृष्टिसे यह नीति ग्रन्थ तमिल साहित्यमें सबसे प्रधान माना जाता है। इसकी रचना जिस छन्दमें की गयी है वह कुरलवेण-बो-के नामसे प्रसिद्ध है और तमिल साहित्यका खास छन्द है। पुस्तकका नाम कुरल उसमें प्रयुक्त छन्दके कारण पड़ा है। सम्पूर्ण ग्रन्थमें अहिंसा धर्मकी स्तुति है। तमिलवासी इस ग्रन्थको अपना तमिल वेद या ईश्वरीय ग्रन्थ मानते हैं। इसीसे तमिल प्रान्तके प्रायः सभी सम्प्रदाय इसे अपना बतलाते हैं। जैन परम्परा भी इस ग्रन्थको जैनाचार्य कुन्दकुन्द अपर नाम एलाचार्यकी रचना बतलाती है। इस ग्रन्थके तीन विषय मुख्य हैं—अरम (धर्म), पोरुल (अर्थ), इनवम् (काम), ये तीनों विषय इस प्रकार समझाये गये हैं कि वे मूलभूत अहिंसा सिद्धान्तके साथ सम्बद्ध रहें। ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकार धर्मके अध्यायमें लिखते हैं—सहस्रों यज्ञोंको करनेकी अपेक्षा किसी प्राणीका वध न करना और उसे भक्षण न करना अधिक श्रेयस्कर है। यही जैनोंका 'अहिंसा परमो धर्म' सिद्धान्त है।

कुरलके सम्बन्धमें श्री एरियल[1] कहते हैं—'कुरलमें सबसे बढ़कर आश्चर्य-जनक बात यह है कि इसके रचयिताने जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदिकी ओर ध्यान न देकर समस्त मानव जातिको सम्बोधन किया है। उसने पूर्ण नैतिकताका सूत्र रूपमें कथन किया है। उसने गार्हस्थिक और सामाजिक जीवनके सर्वोच्च नियमोंको एक सूत्रमें निबद्ध किया है। विचार, भाषा, कविता, आध्यात्मिक चिन्तन आदिपर उसका पूर्ण प्रभुत्व है।'

अनेक विदेशी भाषाओंमें उसका अनुवाद हुआ है। उसके विचार प्रत्येक धार्मिकके हृदय और मस्तिष्कको आकृष्ट करते हैं। ईसाई भी कुरलकी अवज्ञा नहीं करते। उनका तो यहाँतक विश्वास है कि वल्लुअरके विचार कमोवेश रूपमें सन्त थामससे प्रभावित हैं। परम्पराके अनुसार सन्त थामसने मैलापुरमें प्राण त्याग किया था।

कुरलके अनुवादक डॉ० पोपने लिखा[2] है—'सन्त थामसके कारण मैलापुर हमारे लिए सुपरिचित है। पुराने समयसे ही वहाँ ईसाइयोंका आवास था। वहाँ आर्मीनियनों और पुर्तगालियोंके पुराने गिरजाघर तथा ५वीं शताब्दीका एक शिलालेख भी हैं। तिरुवल्लुअर एक विचारपूर्ण कवि था। उसे जैन सिद्धान्तोंका वैसा ही ज्ञान था जैसा अन्य हिन्दू सम्प्रदायोंका, विदेशियोंके सम्बन्धके कारण

१-२ स्ट० सा० इ० जै०, पृ० ६१।

उसे जातिवादका पक्ष नही था। हर जगहसे ज्ञानका उपार्जन करना ही उसका एकमात्र उद्देश्य था। उसका मित्र समुद्री कप्तान उसके लिए प्रत्येक अपरिचित-के आनेका सन्देश लाता होगा। हम उसे समुद्रके किनारे ईसाई मिशनरियोके साथ घूमते और ईसाई विचारोको ग्रहण करते और उन्हें कुरलमें निबद्ध करते हुए देखनेकी कल्पना कर सकते है।' इस तरह ईसाई भी कुरलको अपना बतलाते हैं।

नालडियार—

तमिल साहित्यमें दूसरा उद्बोधक जैनग्रन्थ नालडियार है। कुरल और नालडियार एक-दूसरेके प्रति टीकाका काम करते हैं। और दोनो मिलकर तमिल जनताके सम्पूर्ण नैतिक तथा सामाजिक सिद्धान्तके ऊपर महान् प्रकाश डालते हैं। नालडियारका नामकरण कुरलके समान उसके छन्दके कारण हुआ है। नालडियारका अर्थ है वेणवा छन्दकी चार पक्तियोमें की गयी रचना। इसके ४० अध्यायोमें ४०० पद्य हैं। कुरलके पश्चात् तमिलमें इसीका आदर है। इसमे मनुष्यकी तृष्णाके आधारभूत सासारिक सुखोकी अनित्यता और नि सारता-को बतलाकर गुणोके उत्पादनपर तथा सन्तजीवनपर विशेष जोर दिया है। इसकी रचनाके सम्बन्धमें यह कथा प्रचलित है कि दुर्भिक्षके कारण आठ हजार जैन साधु अपना अपना स्थान छोडकर पाण्ड्य राज्यमें आये। दुर्भिक्ष दूर होकर सुभिक्षके आनेपर उन साधुओने स्वदेशको जानेकी तैयारी की। पाण्ड्यनरेश इससे बहुत दु खी हुआ और उसने उन्हे जानेसे रोका। उसके बाद एक दिन रात्रिके समय अपने-अपने स्थानोपर एक-एक पद्य रखकर वे साधु वहाँसे चले गये। राजाने जब इस बातको सुना तो उसने क्रुद्ध होकर उनके निवास स्थानकी खोज करायी। वहाँसे ८००० पद्य प्राप्त हुए। उसने उन्हें वैगो नदीमें फेंक देनेकी आज्ञा दी। राजाको यह देखकर बडा आश्चर्य हुआ कि उनमें-से चारसौ पद्य बह-कर किनारेपर आ लगे। तब वे सकलित कर लिये गये। उन्हीका सकलन इस ग्रन्थके रूपमें वर्तमान है।

उक्त किंवदन्तीको दृष्टिसे ओझल कर देनेपर भी इसमें कोई सन्देह नही है कि इन पद्योके रचयिता मदुराके कुछ जैन हैं। इनमे सर्वोत्तम नैतिक विचार ग्रथित है। इस ग्रन्थके रचना-काल के सम्बन्धमें मतभेद है। श्री राम स्वामी, आयगारका मत है कि मदुरामें जैन सगमकी स्थापना होनेके बाद इसकी रचना

---

१ स्ट० सा० इ० जै०, पृ० ९२।

हुई है। जैन संगमकी स्थापनाका समय उन्होंने (४७० ई०) बतलाया है। तथा उस ग्रन्थमें 'मुत्तरैयर'का उल्लेख है। उसपर-से उनका कहना है कि इसकी रचना उस समय हुई है जब मदुरा प्रदेशपर कलभ्रोंका शासन था। किन्तु प्रो० ए० चक्रवर्तीने इस मतका विरोध किया है। उन्होंने लिखा है कि 'मुत्तरैया' शब्दका अर्थ मुक्तानरेश होता है। प्राचीनकालमें पाण्डयदेशमें मुक्ताअन्वेषण एक प्रधान व्यवसाय था और पाण्डय तटोंसे विदेशोंको मुक्ता भेजे जाते थे अतः पाण्डय नरेश मुत्तरैयर कहलाते थे। श्री चक्रवर्ती उसे प्रथम शताब्दीके बादका नहीं बतलाते। अस्तु,

तमिल भाषाके अठारह नीति ग्रन्थोंमें कुरल और नालडियार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। तमिल साहित्यके परम्परागत अध्ययनके लिए इन दोनों ग्रन्थोंका अध्ययन आवश्यक है।

तमिल साहित्यमें पाँच महाकाव्य हैं—शिलप्पदिकारम्, वलयापति, चिन्तामणि, कुण्डलकेशि और मणिमेखलै। इनमें-से प्रथम तीन जैन लेखकोंकी कृति हैं और शेष दो बौद्धविद्वानोंकी कृति हैं। इन पाँच महाकाव्योंमें तीन ही उपलब्ध हैं, वलयापति तथा कुण्डलकेशि अनुपलब्ध हैं। टीकाकारोंके द्वारा यहाँ-वहाँ उद्धृत पद्योंके सिवाय इन ग्रन्थोंके सम्बन्धमें कुछ भी विदित नहीं है। प्रकीर्णक रूपमें प्राप्त कतिपय पद्योंसे यह स्पष्ट है कि वलयापति जैन ग्रन्थकारके द्वारा रचित था। इसी प्रकार बौद्धग्रन्थ कुण्डलकेशिके सम्बन्धमें भी कुछ ज्ञात नहीं है। नीलकेशि ग्रन्थमें उद्धृत पद्योंसे यह स्पष्ट है कि कुण्डलकेशि एक दार्शनिक ग्रन्थ था जिसमें वैदिक तथा जैनदर्शनका खण्डन करके बौद्ध दर्शनको प्रतिष्ठित करनेकी कोशिश की गयी थी। अवशिष्ट तीन ग्रन्थोंमें बौद्ध ग्रन्थ मणिमेखलैकी कथाका सम्बन्ध शिलप्पदिकारम्से है जो स्पष्टतया जैन ग्रन्थ है।

शिलप्पदिकारम्—

यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तमिल ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके रचयिता इलंगोवाडिगल् चेर नरेश चेर लादनके लघुपुत्र थे। इलंगोवाडिगल् चेरलादनके पश्चात् होनेवाले नरेश शेनगुट्टुवनका छोटा भाई था। इसीसे उसका नाम इलंगोवाडिगल् अर्थात् छोटा युवराज था। वह जैन मुनि हो गये थे। इस ग्रन्थमें वर्णित कथाका सम्बन्ध नगर पुहार कावेरी पुमपट्टणके—जो चोल राज्यकी राजधानी थी—महान् वणिक् परिवारसे है। कण्णकी नामकी नायिका इसी वैश्यवर्गकी थी। वह

१ तमिल भाषाका जैन साहित्य—अनेकान्त वर्ष ३, कि० १०, पृ० ७०१।

अपने शील और पतिभक्तिके लिए प्रख्यात थी। चूँकि इस कथामें पाण्ड्य राज्यकी राजधानी मदुरामें नूपुर अथवा शिलम्बु बेचनेका प्रसंग है इसलिए यह दुःखान्त रचना शिलम्बु महाकाव्य कही जाती है। इस कथाका सम्बन्ध तीन महाराज्योंसे है अतः उसका लेखक, जो चेर युवराज है, पुहार, मदुरा तथा वनजी नामकी तीन राजधानियोंका वर्णन विस्तारसे करता है। अस्तु,

इसकी नायिका कण्णकी चोल राज्यकी राजधानी पुहार नगरके एक वणिक्की पुत्री थी। उसका विवाह उसी नगरके एक अन्य वणिक्के पुत्र कोवलनसे हुआ था। कोवलन नर्तकी माधवीके रूपपर मुग्ध होकर अपनी सब सम्पत्ति खो बैठा। और पूर्ण गरीबीकी अवस्थामें घर लौटा। उसकी पत्नी कण्णकीने स्नेहके साथ उसका स्वागत किया और धीरज बँधाया। तथा पुनः अपना व्यापार आरम्भ करनेके लिए उत्साहित किया। कण्णकीके पास कुछ आभूषण शेष थे। मगर कोवलन अब अपने नगरमें रहनेके लिए तैयार नहीं था। अतः पाण्ड्य देशकी राजधानी मदुरामें जाकर आभूषण बेचनेका निश्चय किया। मार्गमें जैन साधुओंके आश्रममें उन्हें कौन्ती नामकी साध्वी मिली। वह उन दोनोंके साथ चलनेको राजी हो गयी। लम्बी यात्राके पश्चात् वे मदुरा पहुँचे और एक गडरियेकी स्त्रीके पास ठहरे। कोवलन अपनी स्त्रीके पैरका शिलप्पदिकारम् अर्थात् नूपुर लेकर उसे बेचनेके लिए शहरमें गया। वहाँ उसे एक स्वर्णकार मिला। और उसने उसे वह बहुमूल्य नूपुर दिखलाया। वह दुष्ट स्वर्णकार राजाको बेचनेके बहानेसे उस नूपुरको लेकर राजाके पास पहुँचा। और उस नूपुरको रानीका बतलाकर कोवलनको उसका चोर कहा। राजाने बिना विचार किये कोवलनको प्राणदण्ड दे दिया। जब कण्णकीने यह समाचार सुना तो वह दूसरा नूपुर लेकर राजाके सामने उपस्थित हुई। तब राजाको अपनी भूल मालूम हुई और उसने निर्दोष कोवलनका वध करनेके पश्चात्तापमें प्राण त्याग दिये। क्रुद्ध कण्णकीने मदुरा नगरको शाप दिया कि वह अग्निसे भस्म हो जाय। और शापके साथ अपना बायाँ स्तन काटकर नगरकी ओर फेंक दिया। नगर जलकर भस्म हो गया। कण्णकी स्वर्गमें जाकर अपने पतिसे मिल गयी। यहाँतक ग्रन्थके दो काण्ड पूरे हो जाते हैं। तीसरे काण्डमें शीलवती कण्णकीकी स्मृतिमें मन्दिर बनवानेका वर्णन है।

चिन्तामणि—

तमिल जैन ग्रन्थोंमें चिन्तामणि निःसन्देह सर्वोत्कृष्ट है। उसका रचयिता तिरुतक्क देव संस्कृतका एक प्रमुख विद्वान् था। उसके इस ग्रन्थमें संस्कृतमें जो

कुछ सर्वोत्तम है वह तो संगृहीत है ही, किन्तु संगमकालीन कविताओंका स्तर भी उसमें दिया है। उसके साथ ही जैन धर्मके मुख्य सिद्धान्तोंका भी प्रतिपादन किया है। इसमें राजा जीवकका पूरा जीवनवृत्तान्त और उसके विविध जीवन-प्रसंगोंके अवसरका लाभ उठाकर अनेक धार्मिक उपदेश दिये गये हैं। संस्कृतके गद्यकाव्य चिन्तामणि तथा क्षत्रचूडामणिमें भी जीवक या जीवन्धरका चरित वर्णित है। दोनों संस्कृत रचनाएँ वादीभसिंहकृत हैं। इन्हींको तमिल जीवक चिन्तामणिका आधार माना जाता है।[1] तमिल साहित्यके विशेषज्ञ पं० स्वामीनाथय्याका यही मत है। कुप्पु स्वामी शास्त्रीने अपने सम्पादित किये हुए क्षत्रचूडामणिमें इस तरहके छायामूलक बीसों पद्य टिप्पणके रूपमें उद्धृत करके इस बातकी पुष्टि की है।[2] प्रो० रामस्वामी अय्यंगरने भी यही अनुमान किया है।

चिन्तामणि तमिल साहित्यका 'मास्टर पीस' है। शैव विद्वानों तकने उसकी प्रशंसा की है। उसकी इतनी अधिक ख्यातिसे ईर्ष्यालु होकर शैव कवि सेक्कि-लारने परिय पुराणकी रचना की थी। किन्तु उसकी रचना चिन्तामणिकी लोक-प्रियताको दबा नहीं सकी। सेक्किळारने अपने पेरियपुराणमें चिन्तामणिकी जो प्रशंसा की है उससे पता चलता है कि उसके समयमें चिन्तामणिकी कितनी प्रतिष्ठा थी। पेरियपुराण चोलनरेश कुलोत्तुंगकी प्रार्थनापर रचा गया था। कुलोत्तुंगका राज्य-काल ई० १०८० से १११८ है। अत एव इससे पहले जीवक चिन्तामणि रचा गया था। इसकी वर्णित कथा भी बड़ी मनोरम और शिक्षाप्रद है। नच्चिनार्क्किनियरकी टीकाके साथ यह मुद्रित हो चुका है। इसमें ३० लम्ब और ३१४५ पद्य हैं।

नरिविरुत्तम्—

तिरुत्तक्क देवकी एक और उल्लेखनीय रचना है। उसका नाम 'नरिविरुत्तम्' है। इसमें केवल ५० पद्य हैं। और सम्भवतया हितोपदेशकी एक कथाके आधार-पर जैनधर्मके कुछ सर्वोत्तम सिद्धान्तोंको निबद्ध किया है। शैली बड़ी मनोरम है बाल और वृद्ध दोनोंके ही लिए आकर्षक है। कविने मनुष्यकी इच्छाओंको अस्थिर और सम्पत्ति तथा सांसारिक सुखको क्षणभंगुर बतलाया है। कथा संक्षेपमें इस प्रकार है—

---

१ जै० सा० इ०, पृ० ३२५।
२ स्ट० सा० जै०, पृ० ६५।

एक बार एक जगली हाथी खेतमे उपजको कुचल रहा था। एक शिकारी उसे मारना चाहता था। एक ऊँची भूमिपर खडा होकर उसने हाथीपर बाणसे प्रहार किया। उस भूमिके नीचे सर्पोके बिल थे। उधर हाथी मरा इधर सर्पने शिकारीको डस लिया। शिकारीने सांपके दो टुकडे कर दिये और सर्पके जहर-से मर गया। एक स्यार यह सब देखता था। वह झाडियोसे निकलकर उस स्थानपर आया। और प्रसन्नतापूर्वक बोला—यह हाथीका शरीर छह मासके लिए पर्याप्त है। शिकारीसे भी सात दिनका काम चल सकता है। सर्प एक दिनके लिए ही होगा। ऐसा अपने मनमें कहते हुए वह शिकारीके पास गया। उसकी दृष्टि धनुषपर पडी। ज्यो ही उसने धनुषकी तांतमें मुँह मारा कि धनुष टूटकर उसके मुँहमें बडी जोरसे लगा। तत्काल उसका प्राणान्त हो गया। इस कहानीके द्वारा जिस सत्यका प्रतिपादन किया गया है, वह स्पष्ट है।

तमिलके इन बृहत् काव्योके अतिरिक्त पाँच लघुकाव्य भी विख्यात है, वे हैं—नीलकेशि, चूडामणि, यशोधर कावियम्, नागकुमार कावियम् तथा उदयणन कथै। ये पाँचो लघुकाव्य जैन कवियोकी कृतियाँ हैं।

नीलकेशि—

इसके रचयिताके विषयमें कुछ भी ज्ञात नही है। यह भारतीय दर्शनसे सम्बद्ध एक तर्कपूर्ण ग्रन्थ है। और इसपर वामन मुनि रचित एक समय दिवाकर नामकी उत्कृष्ट टीका है। यह वामनमुनि वे ही है जो साहित्यिक ग्रन्थ मेरु मन्दिर पुराणके भी रचयिता हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि नीलकेशिकी रचना बौद्ध ग्रन्थ कुण्डलकेशिके प्रतिवादके लिए की गयी थी। कुण्डलकेशिके दार्शनिक विचारोका खण्डन करना ही उसका उद्देश्य है। उसकी कथा भी कुण्डलकेशिके ही सांचेमे ढली हुई है। वह कोई पौराणिक कथा नही है, किन्तु दार्शनिक विवादकी भूमिका निर्माण करनेके लिए ही सम्भवत उसकी कल्पना की गयी है। कथाका सम्बन्ध जिस देशसे है उसकी राजधानी है पुण्ड्रवर्धन। उसके बाहर कालीका एक मन्दिर है। वहाँ एक दिन कुछ नागरिक बलिदानके लिए कुछ पशु-पक्षी लाते है। उस मन्दिरके समीप विद्यमान मुनिचन्द्र नामके योगी उन्हे पशु बलिदानसे रोकते हैं और कहते हैं कि यदि तुम पशु-पक्षियोकी मिट्टीसे बनी मूर्तियोको कालीके मन्दिरमें चढाओगे तो देवी पूर्ण सन्तुष्ट होगी और तुम बहुत-से प्राणियोके घातके पाप से भी

बचोगे। लोगोको तो यह बात पसन्द आयी किन्तु कालीदेवी अत्यन्त क्रुद्ध हुई। उसने चाहा कि मैं इस जैन मुनिको यहाँसे भगा दूँ जिससे वे बलिदानमें बाधा न डाल सकें। मुनिजीकी आध्यात्मिक शक्तिके सामने अपनेको हीन अनुभव करके कालीदेवी अपनी अधिष्ठात्री देवी नीलकेशिकी खोजमें निकली और उससे अपना कष्ट निवेदन किया। नीलकेशिने पुण्ड्रवर्धन नगरमें पधारकर मुनिको भयभीत करनेके अनेक उपाय किये किन्तु मुनि विचलित नही हुए। तब नीलकेशिने उस देशकी सुन्दर राजकुमारीका रूप धारण करके अपनी शृंगारिक चेष्टाओंसे मुनिको विचलित करना चाहा। किन्तु मुनिने स्वय ही उसके इस बनावटी रूपका परदा फाश कर दिया। तब तो नीलकेशिने मुनिराजसे प्रभावित होकर अपना अपराध स्वीकार किया और क्षमा मांगी। मुनिराजके क्षमादान करनेपर नीलकेशिने कृतज्ञतावश पवित्र जीवन बितानेकी इच्छा प्रकट की। तब मुनिराजने उसे अहिसा धर्मका उपदेश देकर उस प्रदेशमें अहिसा धर्मका प्रचार करनेका आदेश दिया। नीलकेशिने इसे स्वीकार किया और मनुष्य रूपको धारण करके अहिसा धर्मके प्रचारमें अपना समय लगाया। यही विषय इस ग्रन्थके 'धर्मन् उरैचउवक्कम्' नामके प्रथम अध्यायमें वर्णित है।

कुण्डलकेशिवादचरुक्कम् नामक दूसरे अध्यायमें बुद्ध धर्मके प्रतिनिधि कुण्डलकेशिके साथ नीलकेशिका विवाद वर्णित है। कुण्डलकेशि अपनी पराजयके साथ अहिंसाके सिद्धान्तोको स्वीकार करती है। कुण्डलकेशिके गुरुका नाम अर्हच्चन्द्र था। तीसरे अध्यायमे बौद्ध विद्वान् अर्हच्चन्द्रके साथ विवादका और उसकी पराजयका वर्णन है। चौथे 'मोक्कलवादचरुक्कम्' अध्यायमें मोक्कल नामके बौद्ध गुरुके साथ नीलकेशिके विवादका वर्णन है। यह अध्याय सबसे बडा है। इसमें बौद्ध धमके मुख्य सिद्धान्तोकी विस्तृत चर्चा है। 'बुद्धवादचरुक्कम्' नामक पांचवें अध्यायमें वादके लिए नीलकेशि और बुद्धके मिलनका वर्णन है। बुद्ध स्वय इस बातको स्वीकार करते बताये गये है कि उनका अहिसा सिद्धान्त वास्तवमें उनके अनुयायियोंके द्वारा नहीं पाला जाता। अन्तमें वे अपने धर्मके असन्तोषप्रद स्वरूपको स्वीकार करते है और अहिसा तत्त्वके सरक्षणके लिए उसके पुन निर्माणकी बातको स्वीकार करते है। इस तरह चार अध्यायोंमें बौद्धोंके साथ वादका वर्णन है।

छठे 'आजीवकवादचरुक्कम्'में आजीवक धर्मका वर्णन है। यद्यपि कुछ बाह्य बातोंमें आजीवक निर्ग्रन्थोके समान थे किन्तु धर्मके विषयमें जैनोंसे उनका बहुत भेद था। इस अध्यायमें ग्रन्थकारने इन दोनो मतोके बीचमें पाये जानेवाले

मौलिक सैद्धान्तिक भेदोंका वर्णन किया है। सातवें 'साख्यवादचरुक्कम्' अध्यायमें साख्य सिद्धान्तकी समीक्षा की गयी है। आठवें अध्यायमें वैशेषिक दर्शनका विचार किया गया है। नौवें 'वेदवादचरुक्कम्' अध्यायमें वैदिक क्रियाकाण्डमें होनेवाली पशुबलिके साथ वैदिक क्रियाकाण्डपर स्थित वर्णाश्रम धर्मकी आलोचना की गयी है। लेखकने यह स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है कि जन्मके आधारपर मानी गयी सामाजिक विभिन्नताका आध्यात्मिक क्षेत्रमें कोई महत्त्व नहीं है और इसलिए धर्ममें भी उसका कोई महत्त्व नहीं है।

अन्तिम 'भूतवादचरुक्कम्' नामक दसवें अध्यायमें जडतत्त्ववाद या भूतवादपर विचार किया गया है। लेखकने इस बातपर जोर दिया है कि आत्मा एक स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व है। वह भौतिक तत्त्वोंके मेलसे उत्पन्न हुआ कोई गौण तत्त्व नही है। इस तरह इस ग्रन्थमें आत्मतत्त्व और अहिंसा तत्त्वके आधारपर मृत्युके अनन्तर भी मानवीय तत्त्वका अवस्थान और अहिंसामूलक धर्मको प्रधानताको सिद्ध किया गया है।

यह ग्रन्थ तमिल साहित्यके प्राचीन काव्य ग्रन्थोमें-से है। इसमें कुल ८९४ पद्य हैं। प्रो० चक्रवर्तीने इसे सम्पादित करके प्रकाशित किया था। यह तमिल साहित्यके विद्यार्थियोके लिए भी बडा उपयोगी है। इससे व्याकरण तथा मुहावरेके कितने ही प्रयोग और प्राचीन शब्द प्रकाशमें आते है। यत. इस ग्रन्थमें कुरल और नालडियारके उल्लेख पाये जाते हैं अत यह ग्रन्थ उनके बादकी कृति होना चाहिए।

यशोधरकाव्य—

इसके रचयिता कोई जैन मुनि थे। उनके सम्बन्धमे अन्य कुछ भी ज्ञात नही है। इसकी कथा सस्कृत भाषाके यशस्तिलक चम्पू, यशोधर चरित आदिमें वर्णित है। टी० वैकट रमन आयगरने इसका प्रकाशन किया था।

चूलामणि—

यह ग्रन्थ जैन कवि तोला मोलित्तेवरके द्वारा रचा गया है। वह कारवेट नगरके अधिपति विजयके आश्रित थे। इसका आधार जिनसेन रचित महापुराणकी एक पौराणिक कथा है। कथाका नायक तिविट्टन या त्रिविष्टप नौ वासुदेवोंमें-से है। इसका काव्य-सौन्दर्य चिन्तामणिके समान है। इसमें कुल १२ सर्ग और २१३१ पद्य हैं।

शेष दो लघुकाव्य—

उदयन और नागकुमार ये लघु काव्य हैं। इनमें-से प्रथममें वत्सदेशके राजा उदयनकी कथा है। महामहोपाध्याय स्वामीनाथन्ने इसका सम्पादन किया है। इसे वृहत्कथा या पेरुनकथै भी कहते हैं। यह नामकरण गुणाढ्यके द्वारा पैशाची भाषामें रचित वृहत्कथाके आधारपर किया गया है किन्तु तमिल पेरुनकथैके रचयिताने गुणाढ्यकी वृहत्कथासे केवल उदयन राजाके जीवन सम्बन्धी अशोको ही ग्रहण किया है। इसमें मुख्य छह अध्याय हैं—उनजैककाण्डम्, लावाणककाण्डम्, मघदककाण्डम्, वत्तवकाण्डम्, नरवाणकाण्डम् और थुरवुकाण्डम्। ये सब उदयन-की महत्त्वपूर्ण जीवनीसे सम्बन्ध रखते हैं। उदयनकी कथा प्रसिद्ध है, किन्तु इस काव्यमें उदयनको वैशालीनरेश चेटककी पुत्री मृगावतीकी सन्तान बतलाया है। जब उदयन गर्भमे था तो उसकी माता मृगावती एक दिन लाल पुष्पोंसे सुसज्जित लाल शय्यापर सोती थी। मासके लोभसे उसे शरभ पक्षी उठाकर विपुलाचलपर ले गया। और उसके जाग जानेपर वही छोडकर उड गया। वही उसने पुत्रको जन्म दिया। मृगावतीके पिता चेटक राज्य त्याग कर जैन मुनिके रूपमें वहाँ तपस्या करते थे। बच्चेके रोनेकी आवाज सुनकर वे वहाँ पहुँचे और अपनी पुत्री मृगावतीको देखा। और उसी विपुलाचलपर रहनेवाले एक ब्राह्मण दम्पतिको उनका भार सौंप दिया। बडा होनेपर उदयन अपने नानाके राज्यका स्वामी हुआ। इत्यादि लम्बी कथा है। चेटक जैन तीर्थंकर भगवान् महावीरका भी नाना था। उनके राज्य त्याग कर जैन मुनि होनेकी बात अन्यत्र देखनेमें नही आयी।

मेरुमन्दरपुराण—

यह भी तमिल भाषाका एक महान् ग्रन्थ है। साहित्यिक शैलीकी उत्तमता-की दृष्टिमे यह तमिल भाषाके श्रेष्ठतम साहित्यके सदृश है। यह मेरु और मन्दर सम्बन्धी पौराणिक कथाके आधारपर रचा गया है। इसीसे मेरु और मन्दर युवराजोंके नामपर इसे मेरुमदर पुराण कहते हैं, इस कथाका वर्णन महापुराणमें आया है और इसे विमलनाथ तीर्थंकरके समयकी घटना बतलाया है। नील-केशिके टीकाकार वामन मुनि ही इसके रचयिता हैं। वे बुक्करायके समयमें १४वीं सदीके लगभग विद्यमान थे। जैन धर्मके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंके प्रति-पादनके लिए ही उन्होंने इस कथाका आश्रय लिया है। इसमें ३० अध्याय तथा १४०५ पद्य है। प्रो० ए० चक्रवर्तीने उसे भूमिका और टिप्पणके साथ प्रकाशित कराया था।

श्रीपुराण—

तमिलके जैनोंमें यह बहु प्रचलित है। यह तमिल-संस्कृत मिश्रित गद्यमें रचा गया है। इसका आधार जिनसेन स्वामीका महापुराण है। इसमे २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलदेव इन ६३ शलाका पुरुषोका चरित वर्णित है। इसीसे इसे त्रेसठशलाका-पुरुषपुराण भी कहते हैं। इसके रचयिताका नाम अज्ञात है।

कलिंगुत्तुप्परनि—

इस प्रसिद्ध काव्यमें चोलराज कुलोत्तुंग और कलिंगराजकी सेनाओंमें हुए युद्धका वर्णन है। यह युद्ध कलिंगकी भूमिमें हुआ था।

छन्दशास्त्र और व्याकरणशास्त्रपर भी जैनोकी कृतियाँ वर्तमान हैं—

याप्परुंगलम्कारिकै—

यह तमिल छन्दशास्त्रका ग्रन्थ अमृतसागरके द्वारा रचा गया है। यह लगभग एक हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है। इसके मंगलाचरणके एक श्लोकमें अर्हन्त परमेष्ठीको नमस्कार किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि यह जैन ग्रन्थकारकी कृति है। स्वयं ग्रन्थकारने यह सूचित किया है। यह एक संस्कृत ग्रन्थके आधारपर रचा गया है। इसपर गुणसागर रचित टीका है। यह छन्दशास्त्रका मुख्य ग्रन्थ है। छन्दो तथा पद्य-रचनाओके सम्बन्धमें इसे प्रमाण माना जाता है। इसके द्योतक अवतरण तमिल साहित्यमें पाये जाते हैं। इन्हीं अमृतसागरके द्वारा रचित याप्परुंगलविरुत्ति नामक एक तमिल छन्दशास्त्रका और भी ग्रन्थ है। यह प्रकाशित हो चुका है।

नेमिनाथम्—

यह तमिल व्याकरणका ग्रन्थ है। इसके रचयिता गुणवीर पण्डित हैं। यह मलयपुरमें रचा गया है। वहाँ नेमिनाथ भगवान्‌का मन्दिर है। इसीसे इसे नेमिनाथम् नाम दिया गया है। इसके रचयिता गुणवीर पण्डित कलन्दैके वाचानन्द मुनिके शिष्य थे। चूँकि पहलेके तमिल व्याकरणग्रन्थ बहुत विशाल और बहुश्रम साध्य थे इसलिए इस व्याकरण ग्रन्थकी रचना की गयी। इसके आरम्भके पद्योंमें लिखा है कि जलप्रवाहके द्वारा मलयपुरके जैन मन्दिरके विनाशके पूर्व यह ग्रन्थ रचा गया था। अतः इसको ईसवी सन्‌के प्रारम्भकालकी रचना कहा जाता है। यह प्रसिद्ध बेणवा छन्दमें है। मदुराके तमिल संगमके अधिकारियोंने इसको शेन तमिल नामके तमिल पत्रमें पुरातन टीकाके साथ छपाया था।

नन्नूल्—

यह तमिल व्याकरणपर दूसरा ग्रन्थ है। यह सबसे अधिक प्रचलित है, तोलकाप्पियम्के बाद इसीकी प्रतिष्ठा है। शियगग नामक सामन्तके अनुरोधपर बावनन्दि मुनिने इसकी रचना की थी। इसके रचयिता तोलकापियम्, अगत्तियम् तथा अविनयम् नामक तमिल व्याकरण ग्रन्थोंमें ही प्रवीण नहीं थे, किन्तु संस्कृत व्याकरण जैनेन्द्रमें भी प्रवीण थे। इसपर बहुत-सी टीकाएँ हैं। इनमें मुख्य टीका मल्लिनाथकी बनायी हुई है। यह स्कूल और कालेजोंमें पाठ्यपुस्तकके रूपमें निर्धारित है।

तमिल कोष साहित्यमें भी जैनोंकी देन महत्त्वपूर्ण है। तमिल कोषोंमें तीन ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं—दिवाकर निघण्टु, पिंगल निघण्टु और चूडामणि निघण्टु। ये तीनों कोष पद्यमें रचित हैं। प्रथम कोषके रचयिता दिवाकर मुनि हैं, दूसरेके पिंगल और तीसरेके मण्डल पुरुष। तमिल विद्वानोंका अभिमत है कि ये तीनों जैन थे। प्रथम दिवाकर निघण्टुका अस्तित्व तो लुप्त हो चुका है शेष दोनों उपलब्ध हैं। इनमें-से अन्तिम चूडामणि निघण्टुका खूब प्रचार है। उसकी भूमिकाके पद्योंसे ज्ञात होता है कि उसका रचयिता जैन ग्राम पेरुमन्दिरका निवासी था जो दक्षिण अर्काट जिलेके तिन्दिवन तालुकासे कुछ मील दूरीपर है। इसके सिवाय लेखकने जिनसेनाचार्यके शिष्य गुणभद्राचार्यका उल्लेख किया है। ये गुणभद्र उत्तरपुराणके रचयिता हैं। इससे स्पष्ट है कि मण्डलपुरुष गुणभद्रके पश्चात् हुए हैं। वह दो और निघण्टुओंका भी उल्लेख करते हैं। चूडामणि-निघण्टु विरुत्तम छन्दमें लिखा गया है। उसमें बारह अध्याय हैं। जाफनाके स्वकर मुख नावलर रचित टीकाके साथ प्रकाशित हो चुका है।

अब हम दो एक प्रकीर्ण ग्रन्थोंका उल्लेख करेंगे।

तिरुनूरन्तदि—

इसके लेखक एक अलवार हैं। उन्होंने जैन धर्म धारण किया था। कहते हैं कि जब वह एक दिन जिनालयके पाससे जा रहे थे, उन्होंने मन्दिरके भीतर मोक्ष तथा मोक्षमार्गका उपदेश करते हुए जैनाचार्यको सुना। उससे आकृष्ट होकर वह मन्दिरके भीतर गये और उन्होंने आचार्यसे उनका उपदेश श्रवण करनेकी आज्ञा माँगी। उसके बाद उन्होंने जैन धर्मको अंगीकार कर लिया और अपने इस परिवर्तनकी स्मृतिमें माइलपुरके नेमिनाथ भगवान्को सम्बोधित करते हुए यह ग्रन्थ बनाया। यह भक्तिरसका अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ है।

अन्तदि एक प्रकारकी विशेष रचना है जिसमें पूर्व पद्यका अन्तिम शब्द दूसरे

पद्यका प्रथम तथा मुख्य शब्द हो जाता है। अन्तदिका अर्थ है अन्त और आदि, इसमें पद्योकी एक पक्ति शब्दविशेपसे परस्पर सम्बन्धित रहती है, जो पूर्व पद्यमें अन्तिम शब्द होता है और बादके पद्यमें पहला। तिरुनूरन्तदि सौ पद्योकी ऐसी ही एक रचना है। यह मदुराके तमिल सगमके द्वारा सचालित शेन तमिल पत्रमें टिप्पणी सहित छपा था।

तिरुक्कलम्बगम्—

यह भी भक्तिरसका ग्रन्थ है। इसके लेखक उदीचिदेव नामके जैन हैं। वे थोड मण्डल देशके अन्तर्गत वेलोर जिलेके अर्णीके पास अरपगई नामक स्थानके निवासी थे। रुलम्बगम्का अर्थ है लघु कविताओका ऐसा मिश्रण, जिसमें अनेक छन्दोके पद्य हो। यह ग्रन्थ केवल भक्तिरस पूर्ण ही नही है किन्तु सैद्धान्तिक भी है। इसमें लेखकने बौद्धधर्म जैसे प्रतिद्वन्द्वी धर्मोका विचार भी किया है।

गणित, ज्योतिष तथा फलित विद्या-सम्बन्धी ग्रन्थोके निर्माणमें भी जैनोका योग रहा है। किन्तु अब तो प्रत्येक विषयका प्रतिनिधि रूप एक-एक ग्रन्थ ही शेष बचा है। ऐंचूवडि गणितका प्रचलित ग्रन्थ है। तथा जिनेन्द्रमौलि ज्योतिषका प्रचलित ग्रन्थ है। जो व्यापारी परम्पराके अनुसार अपना हिसाब-किताब रखते है वे प्रारम्भमें ऐंडूवडि नामक गणित ग्रन्थका अभ्यास करते है। इसी प्रकार तमिल ज्योतिषी जिनेन्द्र मौलिका अभ्यास करते हैं।

प्रो० आयगरने लिखा[1] है कि दुर्भाग्यसे विविध विषयोसे सम्बद्ध बहुत-सा जैन तमिल साहित्य मठो और भण्डारोमें बन्द पडा है। यह आशा की जाती है कि दक्षिणके शिक्षित जैन भाई उसे प्रकाशमें लायेंगे और तब हम यह सिद्ध कर सकेंगे कि दक्षिण भारतके साहित्यिक इतिहासमें जैनोका कितना महान् भाग रहा है।

उपसंहार—

प्रो० ए० चक्रवर्तीने लिखा[2] है कि पुरातन तमिल भूमिमें जैन धर्मके प्रचार तथा तमिल जनतामे जैन धर्मके प्रति अभिरुचिकी बात तमिल साहित्यमें सुरक्षित नही हैं बल्कि उच्च जातीय तमिल समाजमें प्रचलित रिवाजो और रहन सहनसे भी इसपर प्रकाश पडता है। शैव धर्मके पुनरुद्धारके बाद जब राजनैतिक कारणोसे दण्डके बलपर जैनोको शैव धर्म स्वीकार करना पडा था

१, स्ट० सा० इ० जै०, पृ० १०४।

२ तमिल भाषामें जैन साहित्य—अनेकान्त वर्ष ५, पृष्ठ ६४।

तबसे हिन्दू धर्ममें परिवर्तित लोग हिन्दू समाजकी उन-उन जातियोंमें शामिल हो गये किन्तु उन्होंने जैन जीवनमें पाले जानेवाले रिवाजों और रहन-सहनको सुरक्षित रखा। इस प्रकार यद्यपि उन्होंने धर्म परिवर्तन कर लिया किन्तु आचार नहीं बदला। उसीका यह परिणाम है कि 'शैवम्' शब्दका प्रचलित अर्थ 'शैव धर्मका आराधक' बदलकर आम बोलचालमें कट्टर शाकाहारी हो गया है। हिन्दू वेलालोंमें कट्टर शाकाहारी भोजन करनेवालेके बारेमें कहते हैं कि वह 'शैवम्' का पालन करता है। इसी तरह तमिल देशके ब्राह्मण 'शैवम्' कट्टर शाकाहारी हैं। इस सम्बन्धमें भारतके अन्य भागोंके गौड ब्राह्मणोंके वर्गान्तर्गत ब्राह्मणोंसे तमिल ब्राह्मणको द्रविड ब्राह्मणके रूपमें पृथक् किया जाता है। द्रविड ब्राह्मण कट्टर शाकाहारी होते हैं। जब कि गौड ब्राह्मण मत्स्य तथा मांसाहार तक करते देखे जाते हैं। बंगाली ब्राह्मणोंमें आमतौरपर बकरा या भैंसा कालीके आगे बलि किया जाता है और बादमें वे उसे कालीके प्रसादके रूपमें अपने घर ले जाते हैं। ऐसी बात तमिल देशके किसी भी हिन्दू मन्दिरमें चाहे वह शैव हो या वैष्णव, कल्पनामें भी नहीं आती। अतः इस कथनमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि भोजन तथा मन्दिरकी पूजामें जैनोंको अहिंसाका सिद्धान्त तमिल भूमिके हिन्दू समाजमें आज तक स्वीकृत तथा पालित चला आता है।



८. आन्ध्रमें जैन धर्म

१ प्राचीनता तथा स्थिति—

आधुनिक खोजोके आधारपर प्राय यह सर्वसम्मत है कि आन्ध्रदेशमें जैन धर्म मोर्य कालसे पूर्व वर्तमान था। और बोद्ध जातकोके अशोकीय अनुवादके पहुँचनेसे पूर्व जैन धर्मका सास्कृतिक और मानवीय प्रभाव उस देशमें अपना काम कर रहा था। तथा उसके अहिसा सिद्धान्तके व्यवहारने आन्ध्र और कलिगमें अशोककी घोषणाओ और प्रचारकोके द्वारा प्रकाशित बोद्ध धर्मके सिद्धान्तोका स्वागत हो सकने योग्य भूमिका तैयार कर दी थी। अशोककी घोषणाओसे परिचित जनोसे यह बात अज्ञात नही है कि कलिगको जीतनेके पश्चात् अशोकने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और युद्ध तथा आक्रमणके बदलेमें शान्तिकी नीतिको अपनाया था। इस विचित्र परिवर्तनकी व्याख्या भी कलिगकी तत्कालीन धार्मिक स्थितिमें प्राप्त की जा सकती है। खारवेलके शिलालेखसे भी उक्त मतका समर्थन होता है। फिर भद्रबाहुकी दक्षिण यात्राकी घटना तो खारवेलसे भी प्राचीन है।

खारवेलके शिलालेखसे पता चलता है कि मगधका राजा नन्द कलिगको जीतकर अग्रजिनकी मूर्ति ले गया था। अत. राजा नन्द जैन धर्मका अनुयायी होना चाहिए। और यह नन्द मौर्योका पूर्वज था।

श्री पी० बी० देसाईने लिखा है[1] कि मार्कण्डेय पुराणके तेलगु अनुवादके अनुसार आन्ध्रदेशके चार क्षत्रियवश नन्दवशसे निकले थे। और नन्द कलिगपर राज्य करता था तथा जैन धर्मका अनुयायी था। अतः जैन धर्मकी प्राचीनता नि सन्देह है।

श्री देसाईने लोकल कैफियतोके आधारपर आन्ध्रदेशमें जैन धर्मके प्रसारके सम्बन्धमें प्राप्त जानकारीके कुछ मुद्दोका निर्देश इस प्रकार किया है—

१ अपने इतिहासके आरम्भिक कालमे विजगापट्टम् जिलेका प्रदेश जैन धर्मसे प्रभावित था।

---

१. जै० सा० इ०, पृ० ११।

२ गोदावरी जिलेका जल्लूर स्थान एक उन्नतिशील जैन नगर था।

३ गण्टूर जिलेके एक गांव मन्त रावूरकी कैफियतमे ज्ञात होता है कि जैन राजाओने बहुत समय तक उस प्रदेशपर राज्य किया। उनके पश्चात् मुक्कन्तीका शासन हुआ, वह शिवकी कृपासे उत्पन्न हुआ था। उसने बौद्धो, जैनो और चार्वाकोका सफाया कर दिया।

४. उसी जिलेके रैंटूर गांवकी कैफियतसे ज्ञात होता है कि जैन शासकोके शासन कालमें रैंटूरके पडोसमें एक कोडराजुपाडु नामका गांव था। उसमें एक जैन मन्दिर था। फलत जब मुक्कन्ती शासन करता था तो काशीसे आकर बसे हुए ब्राह्मणो और जैनोमें विवाद हुआ। इस विवादमें जैनी हार गये और उनका मन्दिर नष्ट कर दिया गया।

५ उसी जिलेके अनन्तवरम्की कैफियतसे ज्ञात होता है कि मुक्कन्तीने जैनो, बौद्धो और चार्वाकोको नष्ट कर दिया। उसने शक २२० तक राज्य किया। धरणिकोट और वरगल उसकी राजधानियाँ थीं।

६ उसी जिलेके केल्लूरकी कैफियतमे धरणिकोटसे मुक्कन्तीके शासन करनेका उल्लेख है। उसमे आगे लिखा है कि उस समय जैन लोग कोल्लूरके निकट नागराजपाडु नामक गांवमें रहते थे। यह भी लिखा है कि शालिवाहन सवत्के आरम्भ होनेके बाद जैन सम्राट् कीर्तिवर्मा शासन करता था। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी विक्रमार्क, जयसिंह, मल्लदेव, वेंगीके विष्णुवर्धन तथा अन्य राजाओने राज्य किया। यावुती और अन्य ग्रामोकी कैफियतोमे भी मुक्कन्ती-के शासनका तथा उसके द्वारा जैनो, बौद्धो और चार्वाकोके नष्ट किये जानेका उल्लेख मिलता है।

७ धरणिकोटमें प्रचलित एक किवदन्तीके अनुसार जैनोके समयमे मुक्कन्तेश्वर नामके राजाने वहाँ एक किला बनवाया था। धरणिकोट कृष्णा जिलेमें है और प्रसिद्ध बौद्ध स्थान अमरावतीके निकट है। अत किंवदन्ती विशेष अर्थपूर्ण है। यह मुक्कन्तेश्वर वही है जिनका उल्लेख अन्य कैफियतोमें मुक्कन्तीके नामसे मिलता है। मुक्कन्ती सस्कृत शब्द त्रिलोचनका तेलुगु रूप है। आन्ध्रदेशमें मुक्कन्ती राज या मुक्कन्ती महाराजके सम्बन्धमे बहुत किंव-दन्तियाँ प्रचलित हैं। उसे दैविक शक्तिसे सम्पन्न तथा पल्लववशका उत्तरा-धिकारी माना जाता है। कभी-कभी पल्लवके स्थानमें काडुवेट्टी शब्दका भी प्रयोग किया जाता है। अत मुक्कन्ती पल्लव, मुक्कन्ती काडुवेट्टी, त्रिलोचन पल्लव, मुक्कन्ती महाराज, मुक्कन्ती आदि नाम एक ही व्यक्तिके वाचक हैं। मुक्कन्ती

का समय दूसरी या तीसरी शताब्दी है।

८ कृष्णा जिलेका गांव मलकापुरम् गाँववालोमें 'जैन उलपाडु के नामसे प्रसिद्ध है। उसका अर्थ है—जैनोका नष्ट भ्रष्ट स्थान।

९ गण्टूर जिलेके तेनालीगाँवकी किंवदन्तीके अनुसार इस प्रदेशपर जैन राजाओके शासन करनेके उल्लेख मिलते हैं।

१० वरगलकी कैंफियतमें एक जैन देव वृषभनाथ तीर्थ (?) का कथन है। वह पूर्वीय चालुक्यवशी राजराज नरेन्द्रका समकालीन था।

११ कुडप्पा जिलेके डोम्मर नन्दयाल ओर जम्मल मडुगुकी कैंफियतोसे ज्ञात होता है कि इस प्रदेशमें आकर बसनेवाले जैन गुरु थे। उन्होंने जगलको साफ किया ओर नये वासस्थलकी नीव रखी। प्रारम्भमें यह वासस्थान छोटे गाँवके रूपमें थे ओर उन्हे पल्ली कहते थे। यदि हम लोकल सग्रहोपर विश्वास कर सकें तो हमें मानना होगा कि जैन धर्मके भ्रमणशील अनुयायियोने ऐसे बहुत-से ग्राम बसाये। समय पाकर इनमे-से कुछ ग्राम बडे-बडे कसबोके रूपमे परिवर्तित हो गये। उन्हें बस्ती कहते थे।[1]

आगेके विवरणसे दो बडे तथ्य निकाले जा सकते है। प्रथम, जैन धर्मने कुछ समय तक आन्ध्र देशके मुख्य भागोमें बडी उन्नति की। दूसरे, ईसवी सन्की आरम्भिक शताब्दियोमें एक ओर बौद्ध धर्मके प्रबल विरोधके कारण, दूसरी ओर ब्राह्मण सस्कृतिकी बढती हुई शक्तिके कारण उसे पीछे हटना पडा। फलत इसके अनुयायियोको क्रूर उपद्रवोका पात्र बनना पडा ओर इससे उसका पतन हुआ। लोकल सग्रहोमें प्रधान रूपसे वर्णित इन असह्य धार्मिक प्रतिक्रियाओके विवरणसे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि आन्ध्र इतिहासके उत्तर कालमें जैनोका धार्मिक उत्पीडन बडे परिमाणमें हुआ। तेलगु साहित्यसे भी इसका समर्थन होता है।

कोमटीकी उत्पत्ति—तेलगु प्रदेशमें कोमटी एक प्रमुख व्यापारी जाति रही है। वे अपनेको कुबेर या धनदका उत्तराधिकारी बतलाते हैं। कहा जाता है कि धनदने जैन धर्मका उपदेश दिया था। इस जातिके पूर्वज कर्नाटकसे आकर बसे थे। वे जैन थे ओर गोम्मटेश्वरको पूजते थे। अत. उनका नाम गोमटी या कोमटी पड गया। प्रारम्भमें वे उत्तर भागमे आकर बसे थे। फिर समस्त तेलगु प्रदेशमें फैल गये। उत्तर कालमें पश्चिम गोदावरी जिलेका पेनुगोण्ड नामक स्थान उस जातिका प्रमुख केन्द्र बन गया। कोमटी जातिकी उत्पत्तिका यह

---

१ जै० सा० ई,० पृ० १८।

विवरण आकर्षक है। और इससे आन्ध्र देशमें जैन धर्मके प्रभावकी पुष्टिमें एक अन्य प्रमाणकी उपलब्धि होती है।

२ तेलगु साहित्यमें जैन काल[1]—

अब हम देखेंगे कि तेलगु साहित्य जैन धर्मसे कहाँतक प्रभावित हुआ है। यह हम देख चुके हैं कि दक्षिण भारतमें जैन धर्मका प्रवेश उसके इतिहासके प्रारम्भिक कालमें ही हो चुका था, और उस देशके तमिल तथा कन्नड दोनो प्रमुख साहित्य उल्लेखनीय रूपसे जैन धर्मसे प्रभावित हैं। दोनो प्रमुख भाषाओंके विशाल साहित्यके अवलोकनसे उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है। इसपर-से यह आशा करना स्वाभाविक है कि तेलगु साहित्यपर भी जैन-धर्मका प्रभाव अवश्य होना चाहिए क्योंकि आन्ध्रमें तमिल और कर्नाटकसे पूर्व जैन धर्मका प्रवेश हुआ था। किन्तु तथ्य एक दम विपरीत है। अत प्रकृत विषयपर विशेष गम्भीरतासे विचार करनेकी आवश्यकता है।

विशाल तेलगु साहित्यमें केवल तीन या चार ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें उत्तर-कालीन जैन ग्रन्थकारोंकी कृति माना जाता है। अबतक उपलब्ध तेलगु साहित्य-में प्राचीनतम ग्रन्थ नन्नय भट्टका महाभारत है। यह पूर्वीय चालुक्य नरेश राज-राज द्वितीयके सरक्षकत्वम ११वीं शताब्दीके मध्यके लगभग रचा गया था। राजराज द्वितीयके समयमें आन्ध्र देशमें हिन्दू धर्मके समर्थनमें एक बहुत बडा आन्दोलन उठा। उससे जैन धर्मका पतन हुआ। ब्राह्मण धर्मके समर्थकोंने उसे केवल एक कोनेमें ही नहीं डाल दिया, किन्तु उसे सुनियोजित ढगसे कुचल डाला। उस समय जैन धर्मसे सम्बद्ध सब उपकरणोंको, यहाँतक कि साहित्यको भी नष्ट कर दिया गया। इस प्रसगमें केवल एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। नन्नय भट्टने अपने ग्रन्थमें अपने किसी भी पूर्वज ग्रन्थकारका निर्देश नही किया। इस चुप्पीसे यह तथ्य प्रकाशमें आता है कि वे सब जैन थे। किन्तु एक वस्तु ऐसी है जिससे हम नन्नय भट्टपर भी जैन धर्मके प्रभावकी खोज कर सकते हैं। वह है उसकी शैली। नन्नय भट्टने अपनी रचनामें विशुद्ध चम्पू शैलीको अपनाया है और उसके आविष्कारक कन्नड देशके जैन कवि हैं। सब ओर यह स्वीकार किया गया है कि नन्नय भट्ट कर्नाटकके साहित्यिक मनीषियोंके ऋणी तथा उनसे प्रभावित है। इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है जो आन्ध्र और कर्नाटक प्रदेशोंके साहित्यिक इतिहाससे सम्बद्ध है। वह यह है कि नन्नय-भट्टसे लगभग एक शताब्दी पूर्व होनेवाले पम्प और नागवर्मा-जैसे कन्नड

---

[1] जै० भा० १०, पृ० १४-१५।

साहित्यके महान् साहित्यिक या तो तेलगु देशसे आये थे या उससे अति सम्बद्ध थे। इसी प्रकारके विचारोके कारण विद्वान् लोग तेलगु साहित्यमें जैन कालके अस्तित्वपर विश्वास करते हुए पाये जाते है। यह काल नौवीं और दसवीं शताब्दी हो सकता है। हमारा यह सुझाव तेलगु शिलालेखोके अध्ययनके आधार-पर है। उनमें इस कालके साहित्यिक विकासके चिह्न मिलते हैं।

३. पुरातत्त्व और अवशेष—

अब हम आन्ध्र देशमें पाये जानेवाले जैन पुरातत्त्व और प्राचीन अवशेषोकी ओर आते हैं। उनके सम्बन्धमें श्री पी० बी० देसाईने दो आवश्यक सूचनाएँ दी हैं। प्रथम, प्रकृत विषयकी अधिकतर जानकारीके लिए स्व० राबर्ट सेवेल द्वारा स्थानीय अधिकारियो तथा अन्य सूचनादाताओसे – जो इस विषयके विशेषज्ञ नहीं थे – प्राप्त विवरण है। अत उनकी सूचनाएँ न तो परिपूर्ण ही हैं और न सर्वथा विश्वसनीय हैं। दूसरे बौद्ध और जैन मूर्तियोमें भेद न कर सकनेके कारण भी कभी-कभी गलतफहमी हो जाती है। इन परिस्थितियोमें यह असम्भव नही है कि इन विवरणोमें बहुत-सी मूर्तियोको बौद्ध बतलाया है जो वास्तवमें जैन हैं। अस्तु,

१ गजम जिला अब उडीसामें है। यह आन्ध्र देशका उत्तरीय सीमान्त है। इस जिलेकी गूमसर पहाडोके निकट मालतीमें अनेक मूर्तियाँ पायी जाती हैं जो सम्भवतया जैन है। इसी जिलेके शैलाद नामक स्थानमें सगमेश्वर पहाडीपर एक गुफामें जैन तीर्थंकरोकी चट्टान काटकर बनायी गयी मूर्तियाँ मिली हैं तथा गुफाके बाहर महावीर तीर्थंकरकी एक मूर्ति है।

२ जयती स्थानमें दो छोटे जैन मन्दिरोके खण्डहर पाये जाते हैं। मामिडि-वाड (Mamidivada) में दो पुराने मन्दिर देखे जाते हैं। इन्हें जैनोने बनाया था। माचवरम् (Machavaram) में गाँवसे पश्चिममें एक तालाबमें दो मूर्तियाँ हैं। गाँवके लोग उन्हें जैन मूर्तियाँ बतलाते हैं। पेड्डमरु (Pedda-marru) में एक पुराने मन्दिरके पास जैन प्रतिमा है। टाटिपाक (Tatipaka) गाँवके मध्यमें एक प्रतिमा यो ही पडी हुई है। पोट्टंगी, (Pottangi) ताल्लुकेमें नन्दपुरम् गाँवमें एक छोटा-सा प्राचीन मन्दिर है उसमे जैन धर्मकी नग्न मूर्तियाँ हैं। ये सब गाँव विजगापट्टम् जिलेमें हैं।

३ विजगापट्टम् जिलेके धर्मवरम् स्थानमें कायोत्सर्ग मुद्रामें एक छह फीट ऊँची मूर्ति जमीनमें आधी गडी हुई है। इसे सन्यासी अय्या कहते हैं और

सन्तानकी इच्छुक स्त्रियां इसे पूजती हैं। गोदावरी जिलेके पित्तपुरम् स्थानमें पद्मासन मुद्रामें जैन मूर्तियां मिलती हैं। इन्हें गांववाले 'सन्यासी देवुलु' अर्थात् वैरागी सन्यासी कहते हैं। गोदावरी जिलेमें अरियवत्तम्, नेडुलूरु, आत्रेयपुरम्, कजलूरु (Kazuluru), जल्लूरु (Jalluru), द्राक्षाराम तथा अन्य ग्रामोंमें जैनमूर्तियां और मन्दिर पाये जाते हैं। द्राक्षाराम एक प्रसिद्ध शैव केन्द्र है।

४ कृष्णा जिलेके अनेक स्थानोंमें जैन अवशेष मिलते हैं। चेब्रोलु (Chebrolu) में वर्तमान शिव मन्दिरके हातेमें अत्यन्त सुन्दर तीन जैन मूर्तियाँ मिली हैं।

५ नेल्लोर जिलेमें आत्मकुरु (Atmakuru) कस्बेसे पश्चिममें एक पहाड़ीपर एक तीर्थंकरकी प्रतिमा है। कर्नूल जिलेके याचवरम् (Yachavaram) नायकल्लु (Nayakallu) आदि ग्रामोंमें जैन अवशेष पाये जानेकी सूचना है।

कुड्डपह (Cuddapah) जिलेमें दानवुलपाडु (Danavulapadu) जैन धर्मका एक महान् केन्द्र था। सन् १९०३ में यहाँ भारत सरकारके पुरातत्त्व विभागकी ओरसे खुदाई हुई थी और जैन धर्मकी उल्लेखनीय पुरातत्त्व सामग्री बहुत बड़े परिमाणमें प्राप्त हुई थी। इसमें स्तम्भोंपर उत्कीर्ण तीर्थंकरों और शासन देवताओंकी मूर्तियां तथा नशियाँ वगैरह थी। इनमें-से कुछके ऊपर आठवीं और नौवीं शताब्दीके लेख हैं। किन्तु यहांसे प्राप्त दो वस्तुएँ ऐसी हैं जिनसे इस स्थानकी और भी अधिक प्राचीनता प्रमाणित होती है। यहांसे खुदाईमें एक ईंटोंका बना कमरा निकला है जिसमें पार्श्वनाथ तीर्थंकरकी मूर्ति स्थापित है। ये ईंटे काफी बड़े आकारकी हैं और कृष्णा जिलेके बौद्ध स्तूपके खण्डहरसे प्राप्त ईंटोंसे मिलती जुलती हुई हैं। आन्ध्र देशके कुछ सिक्के भी खुदाईमें मिले हैं। ये दोनों वस्तुएँ बतलाती हैं कि यह स्थान कमसे कम तीसरी शताब्दीसे जैन धर्मका केन्द्र रहा है।

गांवके नाम दानवुलपाडुके सम्बन्धमें एक आकर्षक तथ्य उल्लेखनीय है दानवुल पाडुका अर्थ है—असुरोंका भग्न वासस्थान।' यह एक तिरस्कार सूचक अपशब्द है। जब जैन धर्मका पतन हुआ तो उसके विरोधियोंने जैन धर्मसे सम्बद्ध स्थानोंके लिए इसका प्रयोग किया। पासके ही एक गांवका नाम 'देवगुडी' है उसका अर्थ होता है, देवताओंका स्थान। यह दानवुलपाडुसे अपनी भिन्नताको बतलाता है।

४. शिलालेख

अब हम शिलालेखोकी ओर आते है ।

हाथी गुम्फा शिलालेख—आन्ध्र देशमें जैन धर्मके प्रवेशके सम्बन्धमें कलिंग चक्रवर्ती सम्राट् खारवेलका प्रसिद्ध हाथी गुम्फा शिलालेख शिलालेख-सम्बन्धी खोजका एक सर्वश्रेष्ठ सीमाचिह्न है। खारवेल जैन धर्मका महान् अनुयायी था । ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दीके इस शिलालेखमें जैन धर्मकी प्रगतिके लिए खारवेलके द्वारा किये गये कार्योंका विवरण दिया है । तदनुसार नन्द राजाके द्वारा ले जायी गयी कलिंग जिनकी मूर्तिको खारवेलने मगधसे लाकर पुन कलिंग-में प्रतिष्ठित किया । दूसरे, उसी पहाडीपर एक मन्दिरका निर्माण कराया । प्रसगवश यह भी उसमें लिखा है कि कुमारी पर्वतपर जैन धर्मका विजयचक्र यथोचित रीतिसे चालू रहा था । यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि यह सकेत जैन धर्मके अन्तिम तीर्थंकर महावीरकी ओर है जिन्होने अपने तीर्थंकर कालमें धर्मचक्रका प्रवर्तन करते समय कुमारी पर्वतपर पदार्पण किया था ।

इससे स्पष्ट है कि कलिंग देशके दक्षिण सीमा प्रदेशमें जैन धर्मकी नींव ईसवी सन्से छह शताब्दी पूर्व ही रख दी गयी थी। और वह प्रदेश आन्ध्रकी उत्तरीय सीमाको मिलाता है। आन्ध्रमें ईसवी पूर्व छठी शताब्दीसे लेकर ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी तक जैन धर्मकी स्थितिके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता । किन्तु यह अनुमान करनेके लिए साधन उपलब्ध है कि खारवेलके समयमें उसे अवश्य प्रगति मिली, क्योकि वह जैन धर्मका महान् सरक्षक था । उसकी सहायता और प्रेरणासे उत्साहित होकर जैन प्रचारक आन्ध्र देशके विभिन्न भागोंमें अवश्य गये होगे और उन्होने जैन धर्मका प्रचार किया होगा । क्योंकि हाथी गुम्फा शिलालेखमें लिखा है कि खारवेलने कुमारी पर्वतपर जैन गुरुओंके एक सम्मेलनका आयोजन किया था । इससे जैन धर्मके कार्यकर्ता प्रचारकोंको अवश्य ही प्रोत्साहन मिला होगा ।

खारवेलके हाथी गुम्फा शिलालेखके सिवाय उदयगिरि और खण्डगिरिकी गुफाओमे ईसवीपूर्व दूसरी शताब्दीसे लेकर ईसवी सन्‌की दसवी शताब्दी तकके जैन शिलालेखादिका विपुल सग्रह है । इस सग्रहमें खास तौरसे उल्लेखनीय शिलालेख वे हैं जिनमें खारवेलकी महारानीके द्वारा जैन साधुओको दान देनेका विवरण है । आन्ध्र देशमें, उसके इतिहासके आरम्भिक कालसे लेकर मध्यकाल तक कलिंग देशके द्वारा जैन धर्मके प्रकाशकी किरणें फेकनेके लिए ये शिलालेख एक प्रकाश स्तम्भका निर्माण करते हैं ।

कलिंग देशके माध्यमसे आन्ध्रमें जैन धर्मके प्रकाशकी किरणें पहुँची। ये उक्त शिलालेखोंसे ज्ञात होता है।

उसके बादके शिलालेखादिके प्राप्त न हो सकनेसे कई शताब्दियों तक जैन धर्मके विषयमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। इसका कारण आन्ध्रदेशकी धार्मिक और राजनैतिक स्थिति है।

सातवाहन नरेशोंने ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दीसे ईसाकी तीसरी शताब्दी तक आन्ध्रके कुछ भागोंमें राज्य किया। वे बौद्ध धर्मके पक्के समर्थक थे। सातवाहनोंके बाद इक्ष्वाकुओंका राज्य हुआ। वे भी बौद्ध धर्मके पोषक रहे। शालकायनों, विष्णुकुण्डिनों और पल्लवोंने तीसरीसे सातवीं शताब्दी तक विभिन्न भागोंमें राज्य किया। वे ब्राह्मण धर्मके केवल अनुयायी ही नहीं थे किन्तु उसके उत्साही प्रोत्साहक भी थे। इस तरह सात-आठ शताब्दियों तक जैन धर्मको राजाओं और उनके अधिकारियोंसे कोई सहायता नहीं मिली। इसके सिवाय इस कालमें बौद्ध धर्म तथा अन्य धर्म भी मैदानमें रहे। पल्लव नरेश सिंहवर्माके विलवत्ती (Vilavatti) दानपत्रमें करोंसे मुक्तिका उल्लेख है। उससे यह अनुभव किया जा सकता है कि ५वीं शताब्दीमें नेल्लोर जिलेके प्रदेशमें आजीवकोंकी संख्या काफी थी। किन्तु ऐसी स्थितिमें भी जैन धर्मको देश निकाला नहीं दिया जा सका और उसके प्रचारक चुपचाप अपना कार्य करते रहे। और कर्नाटकोंके चालुक्योंका राज्य स्थापित होनेपर तेलगु प्रदेशमें जैन धर्म कुछ समयके लिए आगे आया।

पूर्वीय चालुक्यवंशके सदस्योंसे जैन धर्मको प्रारम्भसे ही संरक्षण मिला। पश्चिमीय चालुक्यवंशके पुलकेशी द्वितीयके छोटे भाई कुब्ज विष्णुवर्धनने सातवीं शताब्दीके प्रथम चरणमें आन्ध्र देशमें इस वंशकी स्थापना की थी। कुब्ज विष्णुवर्धनकी रानी अय्यण महादेवीने बैजवाडाके नदुम्बी बसति नामक जैन मन्दिरको एक गांव दानमें दिया था।

पूर्वीय चालुक्य वंशके राजाओंकी भौतिक सहायतासे हिम्मत पाकर जैन धर्मकी बहुत शक्ति और प्रभाव बढ़ा ऐसा प्रकट होता है। इस वंशका एक शासक विजयादित्य षष्ठ, उपनाम अम्म द्वितीय जैन धर्मका महान् उपकारी था। उसने ९४५ ई० से ९७० ई० तक राज्य किया। उसके तीन ताम्रपत्र प्रकाशमें आये हैं। उसमें उसके द्वारा जैन मन्दिरोंके लिए दिये गये दानका विवरण है। इस राजाके द्वारा जारी किये गये मलियपुण्डी (Maliyapundi) शासनपत्रके अनुसार कटकराज दुर्गराजने धरमपुरी गांवके दक्षिणमें एक जैन मन्दिरका निर्माण कराया। दुर्गराज राज्यका एक प्रमुख अधिकारी था। और

उसका कटकराज पद बतलाता है कि वह राजकीय कैम्पका प्रबन्धक था। मन्दिरका नाम कटकाभरण जिनालय था। दुर्गराजकी प्रार्थनापर राजाने मन्दिरके लिए मलियपुण्डी गांव दानमें दिया था। जिनालय यापनीय संघ, कोटी मडुक या मडुवगण और नन्दिगच्छके जिननन्दिके प्रशिष्य, तथा दिवाकरके शिष्य श्री मन्दिरदेवके प्रबन्धमें था।

एक अन्य कलुचुम्बर्रु दानपत्रमे सर्वलोकाश्रय जिनभवन नामक मन्दिरसे सम्बद्ध भोजन भवनकी मरम्मतके लिए कलुचुम्बर्रु गाँव दान देनेका निर्देश है। वह मन्दिर वलहारी गण और अड्डकली गच्छके अर्हनन्दीके प्रबन्धमें था।

उसी राजाके मसलीपट्टम दानपत्रमे जैन धर्मकी बड़ी रंगीन तसवीर अंकित है। उसमें जैन धर्मके भक्त अनुयायी एक सामन्तके कुटुम्बका और जैन गुरुओंकी एक परम्पराका उल्लेख है। ग्रेव्य गोत्र और त्रिनयन कुलका वंशज नरवाहन प्रथम पूर्वीय चालुक्य नरेशका एक अधिकारी था। उसका पुत्र मेलपराज और पुत्रवधू मेण्डाम्बा जैन धर्मके उत्साही अनुयायी थे। उनके पुत्र भीम और नरवाहन द्वितीय भी जैन धर्मके कट्टर अनुयायी थे। उनके गुरुका नाम जयसेन था। श्रावकों, क्षपणकों, क्षुल्लकों और अज्जकाओंने उसका सम्मान किया था। उसकी प्रेरणासे भीम और नरवाहन द्वितीयने विजय वाटिका (आधुनिक बेजवाडा) में दो मन्दिर बनवाये थे। उन मन्दिरोंके निमित्तसे राजा अम्म द्वितीयने पेड्डु गाडिदिपर्रु नामका गाँव दानमें दिया था।

विजगापट्टम जिलेके रामतीर्थ नामक स्थानपर दुर्गपंचगुफाकी दीवारपर एक शिलालेख खुदा हुआ है। उसमें उस स्थान तथा एक पूर्वीय चालुक्य नरेशके सम्बन्धमें बहुमूल्य जानकारी दी हुई है। यह शिलालेख विमलादित्य (ई० १०११–२२) के राज्यकालका है। इसमें लिखा है कि उसके धर्मगुरु त्रिकाल योगी सिद्धान्तदेवने, जो देशीगणके थे, रामकोण्डकी बड़ी भक्तिसे पूजा की। इससे प्रथम तो यह बात सूचित होती है कि राजाने जैन धर्म अंगीकार करके जैन गुरुको अपना आध्यात्मिक मार्गदर्शक बनाया था। दूसरे, उससे यह प्रमाणित होता है कि रामतीर्थ जैन धर्मका पवित्र स्थान था। शिलालेखमें रामतीर्थको रामकोण्ड भी लिखा है।[1] अन्य स्रोतोंसे भी ज्ञात होता है कि प्राचीन कालसे ही यह स्थान जैन धर्मका प्रभावशाली केन्द्र और उसके अनुयायियोंके लिए तीर्थस्थान था। ईसवी सन्‌की आरम्भिक शताब्दियोंमें रामतीर्थ बौद्ध धर्मके अधिकारमें था। यहाँसे बौद्ध धर्मके बहुत अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह उल्लेखनीय

१. जै० सा० इ०, पृ० २१।

है कि बौद्ध धर्मके पतनकालमें कैसे जैनोंने इस स्थानपर कब्जा जमाया और उसे अपने धर्मस्थानके रूपमें परिवर्तित कर दिया।

हम एक बार पुनः दानवुलपाडुकी ओर आते हैं। यहाँ मूर्तियोंसे अंकित स्तम्भोंपर, मूर्तियोंके नीचेके आसनपर और पत्थरोंपर लगभग एक दर्जन शिलालेख अंकित हैं। ये ८वीं शताब्दी और उसके पश्चात्‌के हैं। दसवीं शताब्दीके एक शिलालेखमें राष्ट्रकूट नरेश नित्यवर्षका उल्लेख है। इन्द्र तृतीय या कोट्टिग नामसे उसे पहचाना जा सकता है। एक शिलालेखमें सेनापति श्रीविजयके समाधिमरणका निर्देश है। श्रीविजय बड़ा योद्धा, महान् विद्वान् और जैन धर्मका कट्टर अनुयायी था। कुछ शिलालेखोंमें वैश्य जातिके सद्‌गृहस्थोंके समाधिस्थानों-का निर्देश है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह स्थान पवित्र माना जाता था और जैन धर्मके अनुयायी सुदूर प्रदेशोंसे यहाँ अन्तिम धार्मिक जीवन बितानेके लिए आते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि वरंगलके काकतीयशासकोंसे भी जैन धर्मको साहाय्य मिला था। वरंगलसे थोड़ी दूरपर अन्मकोण्ड पहाड़ीपर पद्माक्षीका मन्दिर है। इस मन्दिरके सामने एक स्तम्भपर चारों ओर चार मूर्तियाँ अंकित हैं और एक शिलालेख भी है। उसका समय १११७ ई० है। यह पश्चिमीय चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठके राज्यकालका है। वेतरसका पुत्र महामण्डलेश्वर काकति प्रोल उस राजाका सामन्त था। दण्डाविनाथ वैजके पुत्र पैरगडेवेता (Pargadebeta)ने प्रोलके शासनमें मन्त्रीका पैतृक पद पाया। इस मन्त्री वेताकी पत्नीका नाम मैलम था। वह जैन धर्मकी अनुयायी थी। अन्मकोण्ड पहाड़ीके ऊपर उसने एक जैन मन्दिर बनवाया और उसके प्रबन्धके लिए भूमिदान की। राज्यके दूसरे प्रधान व्यक्ति महामण्डलेश्वर मेलरसने भी जैन मन्दिरके लिए भूमि दी।

अनन्तपुर जिलेके ताडपत्री शिलालेखसे प्रकट होता है कि उस स्थानमें एक जैन मन्दिर और जैन गुरुओंकी एक प्रभावशाली परम्परा वर्तमान थी। और उन्होंने उस प्रदेशके सामन्तोंसे संरक्षण पाया था। शिलालेखका काल ११९८ ई० है। और उसमें उदयादित्य सामन्तके द्वारा मेघचन्द्रको भूमिदान करनेका उल्लेख है। मेघचन्द्र मूलसंघ, देशीगण, कुन्दकुन्दान्वय, पुस्तक गच्छ और इंगलेश्वर बलिसे सम्बद्ध था। वह चन्द्रनाथ पार्श्वनाथ वसदिका पुरोहित था। मेघचन्द्रके गुरुका नाम भानुकीर्ति और प्रगुरुका नाम दाहुबलि था[1]।

---

१. जै० शा० स०, पृ० २३।

कृष्णा जिलेमें छेन्नोलुसे प्राप्त एक शिलालेखमें उस स्थानके एक अनन्तनाथ जिनके मन्दिरका उल्लेख है। इस शिलालेखका काल १२१३-१४ ई० है। इससे स्पष्ट है कि तेरहवी शताब्दीके प्रारम्भमें वहाँ मन्दिर वर्तमान था। अतः उस समय भी वहाँ जैन धर्मके कुछ अनुयायी थे।

हम्पीके सगहालयमें स्थित एक मूर्तिके नीचेके शिलालेखमें कण्डनव्रोलु (Kandanavrolu) नामक नगरमें एक चैत्यालयके निर्माणका उल्लेख है। उसमें वैचय दण्डनाथके पुत्र इम्मडि वुक्क मन्त्रीश्वरके द्वारा कुन्थुनाथ तीर्थंकरकी मूर्ति प्रतिष्ठित करायी गयी थी। वह मूलसघ बलात्कार गण और सरस्वतीगच्छके धर्मभूषण भट्टारकाचार्यके शिष्य थे। शिलालेखका समय १३९५ ई० है। और वह विजयनगर नरेश हरिहर द्वितीयके राज्यकालका है। कर्नूलका प्राचीन नाम कण्डनव्रोलु है अत यह मूर्ति मूलत कर्नूलकी थी। किन्तु मूर्ति लुप्त हो गयी और केवल उसके नीचेका पाषाण अवशिष्ट है। इससे भी आन्ध्र देशमे जैन धर्मके दीर्घकाल तक ठहरनेका समर्थन होता है।

इसके बादसे आन्ध्रदेशमें जैन धर्मके विनाशके चिह्न मिलते हैं। लिंग नायर वीर शैवके धार्मिक कृत्योका सूचक एक शिलालेख १५१२ ई० का श्रीशैलसे प्राप्त हुआ है। उसमें लिखा है कि उसे श्वेताम्बर जैनोके सिर काटनेका गौरव प्राप्त है। इसके सिवाय जैनोके विरुद्ध किये गये उसके कार्योंका अन्य कोई विवरण प्राप्त नही होता। यद्यपि यह सूचना बहुत सक्षिप्त है किन्तु आन्ध्र देशमें जैन धर्मके सम्पूर्ण इतिहासके साथ पढनेसे इसका मूल्य प्रतीत होता है। प्रथम तो इससे प्रमाणित होता है कि विविध प्रतिकूलताओके रहते हुए भी आन्ध्रदेशमें और मुख्यतया श्रीशैल प्रदेशमें जैन धर्म १६वीं शताब्दी तक वर्तमान था। दूसरे, दक्षिण भारतमें श्वेताम्बर जैनोका भी अस्तित्व था। तीसरे आन्ध्रदेशमें जैन धर्मके विनाशके कारणोमें विरोधी धर्मोंके अनुयायियोका अत्याचार प्रमुख कारण था।

५. अन्तिम निष्कर्ष

सक्षेपमें अन्तिम निष्कर्ष इस प्रकार है—

१. ऊपरसे देखनेवालेको आन्ध्रदेशमें जैन धर्मका कोई चिह्न नहीं मिल सकता, क्योकि उस प्रदेशमें जैन धर्मके अनुयायियोका उल्लेखनीय अस्तित्व नहीं है। कर्नाटकमें श्रवणवेळगोळाकी तरह और तमिलनाडमें जिनकाचीकी तरह आन्ध्रमें जैनोका कोई पवित्र स्थान नही पाया जाता। कन्नड और तमिल साहित्यकी तरह तेलगु साहित्यमे जैनोके द्वारा रचित कोई महान् कृति भी नहीं है।

किन्तु ऊपर लिखे गये विवरणसे पता चलता है कि वस्तुस्थिति इससे सर्वथा विपरीत है।

२ प्राप्त विभिन्न स्रोतोंके गम्भीर अध्ययनसे आन्ध्र देशमें जैन धर्मके इतिहासके कुछ उज्ज्वल तथ्य प्रकाशमें आते हैं जो संक्षेपमें इस प्रकार है—१ आन्ध्रदेशमें जैन धर्मका प्रवेश बौद्ध धर्मसे पूर्व लगभग ईसापूर्व छठी शताब्दीमें ही हो गया था। उसे बौद्ध धर्मके विरोधका सामना करना पड़ा किन्तु उसने विरोधका सामना दृढ़तासे किया और वह बहुत समय तक दृढ़तापूर्वक आन्ध्रमें टिका रहा। उसने आन्ध्रका काफी बड़ा प्रदेश अपनाया था और समाजके प्रमुख वर्ग उससे प्रभावित थे। अनेक राजा और प्रमुख अधिकारी उससे प्रभावित हुए थे और उन्होंने जैन धर्मको अंगीकार किया था।

३ कृष्णा और गंटूर जिलोंसे प्राप्त स्रोत विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। क्योंकि यह प्रदेश बौद्ध धर्मका गढ़ था। अन्य प्रदेशोंसे प्राप्त स्रोतोंके साथ उनकी तुलना करनेपर आप जान सकेंगे कि न तो वे स्रोत मामूली हैं और न तुच्छ हैं। यह स्थिति जैन धर्मके उन महान् प्रचारकोंकी असीम शक्ति और अतुल उत्साहको प्रमाणित करती है जिन्होंने कठिन परिस्थितियोंमें भी अपना कार्य जारी रखा और अपने धर्मकी श्रेष्ठताका सिक्का जमाया।



९. कर्नाटकमें जैन धर्म

कर्नाटकको जैन धर्मका घर माना जाता है। उत्थान और ह्रास, दोनो ही अवस्थाओंमें जैन धर्मको कर्नाटककी जनतासे हार्दिक सहयोग और स्नेहपूर्ण आतिथ्य मिला है। अत 'दक्षिण भारतमें जैन धर्मका इतिहास' एक तरहसे 'कर्नाटकमें जैन धर्मका इतिहास' है। सबसे प्रथम हम उन परिस्थितियोका परिचय करायेंगे, जिनके कारण दक्षिण भारतके इतिहासमें १४वी शताब्दी तक जैन धर्म एक सबसे प्रबल प्रतियोगीके रूपमें रह सका। उनके अध्ययनसे पाठक कर्नाटकमें जैन धर्मके बहुमुखी विस्तार और स्थायी प्रभावको जान सकेंगे।

राजकीय संरक्षण

एक आगन्तुक धर्मसे धीरे-धीरे जैन धर्म कैसे कर्नाटकका एक प्रभावशाली स्थायी धर्म बन गया और कैसे (ईसवी सन्की दूसरी शताब्दीसे लेकर तेरहवीं शताब्दी तक) लगभग बारह शताब्दियो तक कर्नाटकके कुछ अत्यन्त प्रभावशाली और प्रसिद्ध राजवशोके भाग्यका वह सूत्र सचालक रह सका, यह जाननेके लिए विवरणकी आवश्यकता है। इस सफलताका श्रेय केवल उसकी आन्तरिक योग्यताको नहीं दिया जा सकता। उसके अन्य भी कारण हैं जिन्होने उसे एक प्रचारक धर्मसे कर्नाटककी एक प्रबल राजनैतिक शक्तिके रूपमें परिवर्तित कर दिया। उन कारणोमें से सबसे प्रमुख कारण था जैन गुरुओका राजनैतिक जीवनमें प्रवेश। उन्होने जैन सिद्धान्तोका कोरा उपदेश देना बन्द करके राज्योके निर्माणमें भाग लिया। और उसके फलस्वरूप चार प्रसिद्ध राजवशोने जैन धर्मके अभ्युत्थानमें क्रियात्मक सहयोग दिया। और राजाओका अनुकरण उनके मन्त्रियो, सेनापतियों, सामन्तो और साहूकारोने किया। इस तरह जैन धर्मको सब प्रकारकी जनतासे सहयोग प्राप्त हुआ।

गग राजवंश

जैन धर्मकी सर्वप्रथम राजनैतिक कृति दक्षिण भारतका गग राजवश है। गगवश बहुत प्राचीन है। उसका सम्बन्ध इक्ष्वाकु वशसे बतलाया जाता है। पूर्वमें यह वश उत्तर या उत्तर-पूर्वका निवासी था। ईसाकी दूसरी शताब्दीके लगभग इस वशके दो राजकुमार दक्षिणमें आये। उनके नाम दडिग और माधव

थे। पेरूर नामक स्थानमें उनकी भेंट जैनाचार्य सिंहनन्दिसे हुई। सिंहनन्दिने उन्हें शासन कार्यकी शिक्षा दी। एक पत्थरका स्तम्भ साम्राज्यकी देवीके प्रवेश-मार्गको रोके हुए था। सिंहनन्दिकी आज्ञासे माधवने उसे काट डाला। सिंह-नन्दिने उन्हें एक राज्यका शासक बना दिया।

यह सारी कथा मैसूर राज्यसे प्राप्त ११२२ ई० के एक शिला लेखमे अंकित है। वह शिलालेख कल्लूरगुड्डुके सिद्धेश्वर मन्दिरके पाससे प्राप्त हुआ है।

उसमें कहा है कि पद्मनाभ राजाके ऊपर उज्जैनके महीपालने आक्रमण किया। तब उसने दडिग और माधव नामके अपने दो पुत्रोंको दक्षिणकी ओर भेज दिया। प्रतिदिन यात्रा करते करते वे पेरूर नामक सुन्दर स्थानमें पहुँचे। उन्होंने वहीं अपना पडाव डाल दिया और एक तालाबके निकट चैत्यालयको देखकर उसकी तीन प्रदक्षिणा दी। वहीं उन्होंने आचार्य सिंहनन्दिको देखा और उनकी वन्दना करके अपने आनेका कारण उनसे बतलाया। उसे सुनकर सिंहनन्दिने उन्हें हस्तावलम्ब दिया। उनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर देवी पद्मा-वती प्रकट हुई और उसने उन्हें तलवार और राज्य प्रदान किया।

उसी शिलालेखमें आगे लिखा है—जब उन्होंने सम्पूर्ण राज्यपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया तो आचार्य सिंहनन्दिने उन्हें इस प्रकार शिक्षा दी—'यदि तुम अपने वचनको पूरा न करोगे, या जिन शासनको साहाय्य न दोगे, दूसरोंकी स्त्रियोंका यदि अपहरण करोगे, मद्य-मासका सेवन करोगे या नीचोंकी संगतिमें रहोगे, आवश्यक होनेपर भी दूसरोंको अपना धन नहीं दोगे, और यदि युद्धके मैदानमें पीठ दिखाओगे तो तुम्हारा वंश नष्ट हो जायेगा।' उक्त शिला लेखमें सिंहनन्दिके द्वारा दिये गये राज्यका विस्तार भी लिखा है। उच्च नन्दगिरि उनका किला था, कुवलाल राजधानी थी, ९६ हजार देशोंपर आधिपत्य था। निर्दोष जिनेन्द्रदेव उनके देवता थे। युद्धमें विजय ही उनका साथी था। जैनमत उनका धर्म था। और दडिग तथा माधव बडी शानके साथ पृथ्वीका शासन करते थे।

११२९ ई० के एक दूसरे शिलालेखमें लिखा है कि सिंहनन्दि मुनिने अपने शिष्योंको अर्हन्त भगवान्‌की ध्यानरूपी वह तीक्ष्ण तलवार भी कृपा करके प्रदान की थी जो घातिकर्मरूपी शत्रुसैन्यकी पर्वतमालाको काट डालती है। यदि ऐसा न होता तो देवीके प्रवेश मार्गको रोकनेवाले पत्थरके स्तम्भको माधव अपनी तलवारके एक ही वारमें कैसे काट डालता।

सिद्धेश्वर मन्दिरके उसी शिलालेखमें सिंहनन्दिको मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, काणूरगण और मेष पाषाण गच्छका तथा दक्षिण देशवासी बतलाया है, यथा—'दक्षिणदेशवासीगगमहीमण्डलाककुलसमुद्धरण श्रीमूलसघनाथो ।'

११७९ ई० के एक शिलालेखमे भी सिंहनन्दिके द्वारा गंगराज्यकी स्थापनाका निर्देश है।

ऊपरके लेख बारहवीं शताब्दीके हैं। और ग्यारहवी शताब्दीके अन्तमें गंगराज्यका अन्त हो गया था। स्मिथने लिखा[1] है कि 'गंगवंशने दूसरीसे ग्यारहवीं शताब्दी तक मैसूरके एक बडे प्रदेशपर राज्य किया। और लगातार चलनेवाले मध्यकालीन युद्धोंमें प्रमुख भाग लिया।' लुईराईस[2]ने उसे दक्षिणका प्रमुख जैन राजवंश कहा है। राईस[3]का विचार है कि सिंहनन्दिके समयमें मैसूरकी जनतामें जैन तत्त्वोंका काफी प्रभाव अवश्य होना चाहिए। तभी तो उसने सिंहनन्दिसे प्रभावित होकर गंगोंके शासनको स्वीकार कर लिया था। सिद्धेश्वर मन्दिरसे प्राप्त उक्त शिलालेखमे लिखा है कि जिस पेरूर नामक स्थानमें गंगवंशके दो राजकुमार सिंहनन्दिसे मिले थे, वह उस समय जैन धर्मका एक प्रमुख केन्द्र था। किन्तु उसी शिलालेखमें साम्राज्यकी देवीके प्रवेश मार्गमें बाधक जिस शिला स्तम्भको सिंहनन्दिके आदेशसे माधवके द्वारा एक ही वारसे काट डालनेका जो निर्देश है उसके सम्बन्धमें श्री बी० रा० सालेतोरने[4] प्रश्न किया है कि वह शिलास्तम्भ क्या वस्तु थी और उसे क्यो काट डाला गया। राईसने लिखा है कि 'जिन स्तम्भोपर अशोककी आज्ञाएँ अंकित हैं उन्हें शिलास्तम्भ नाम दिया गया है। किन्तु अबतक दक्षिणमें अशोकका कोई स्तंभ नहीं पाया गया। किन्तु कोगुणिवर्मा प्रथमके द्वारा विजित इस भूमिपर किसीने कोई ऐसा शिलास्तम्भ क्यो नहीं स्थापित किया, इसका कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता'। किन्तु ऐसा लिखनेके तेरह वर्ष बाद १८९२ में स्वयं राईसने ही चितलद्रुग जिलेके मोत्रकालमूरु नामक स्थानमें अशोक स्तम्भके मिलनेकी घोषणा की।

श्री सालेतोरने लिखा है कि पेरूरके आसपासमें यद्यपि कोई अशोक स्तम्भ नहीं मिला है तथापि ऐसा अनुमान करना गलत नहीं है कि उक्त शिलालेखमें

१ दा ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० १९९।
२. मैसूर गजेटियर १, पृ० ३०८–३१०।
३ वही, पृ० ३११।
४ मि० डि० जैनि०, पृ० १५।

अकिन शिलास्तम्भ कोई ऐसा ही स्मारक रहा होगा जिसे कोंगुणिवर्मा प्रथम-ने नष्ट कर दिया। यह कोई साधारण स्तम्भ नहीं होगा। अवश्य ही वह कोंगुणिवर्माकी उन्नतिमें बाधक रहा होगा, क्योंकि उक्त शिलालेखमें उसे साम्राज्यकी देवीके प्रवेश मार्गमें बाधक कहा है। माल्लेतोरके अनुसार शिला-लेखका यह उल्लेख अवश्य ही कोंगुणिवर्मासे पहले उस प्रदेशमें बौद्धधर्मके स्थायित्वका सूचक है। सिंहनन्दिने कोंगुणिवर्माकी शक्तिसे उसपर विजय पायी। और पारितोषिकके रूपमें उसे राज्यका स्वामी बना दिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सिंहनन्दिने गंग राजाको जो सहायता दी उसके फलस्वरूप गंग राजाओंकी ओरसे जैनधर्मको बराबर संरक्षण प्राप्त हुआ और कोंगुणिवर्माके पश्चात् भी कुछ अपवादोंको छोड़कर शताब्दियों तक गंगराजाओंने जैन धर्मका संपोषण और संवर्द्धन किया। चौथीसे बारहवीं शताब्दी तकके अनेक शिलालेखोंसे प्रमाणित होता है कि गंगवंशके शासकोंने जैन मन्दिरोंका निर्माण कराया, जैन मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करायीं, जैन साधुओंके निवासके लिए गुफाएँ बनवायीं, और जैन आचार्योंको दान दिया। इसका विवरण आगे दिया जाता है।

[1]मारसिंहके कुडलूर ताम्रपत्रोंसे गंगराजाओंके धर्मपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनमें लिखा है कि प्रथम गंगनरेश कोंगुणिवर्मा प्रथमने अर्हद् भट्टारकके सिद्धान्तोंका पक्ष लेकर बड़ी शक्ति प्राप्त की और सिंहनन्दि आचार्यकी कृपासे उसे साहस और अस्त्रशक्ति प्राप्त हुई।

किन्तु कुछ ब्राह्मणीय दानपत्रोंपर-से यह अनुमान किया जाता है कि किन्हीं गंगनरेशोंने ब्राह्मण धर्मको स्वीकार कर लिया था। उदाहरणके लिए, कहा जाता है कि विष्णु गोपने जैन धर्मको त्याग कर वैष्णव धर्म अंगीकार कर लिया था। किन्तु जिन दो दान पत्रोंके आधारपर यह अनुमान किया जाता है, वे दोनों दानपत्र [2]आरम्भसे संदिग्ध हैं। हरिवर्मा या अन्य किसी गंगनरेशने यदि ब्राह्मणोंको दान दिया था तो इतने मात्रसे यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि राजवंशके धर्ममें कोई परिवर्तन हो गया था। क्योंकि ब्राह्मणोंको दान देना सभी राजाओंका धर्म माना जाता था। विष्णु गोपके पुत्र या पौत्र तडंगल माधवन त्र्यम्बकका भक्त होते हुए भी जैन धर्मको संरक्षण देनेकी प्राचीन गंगपरिपाटीको जारी रखा था। मदूर ताल्लुकाके नोनमंगल नामक स्थानका प्राप्त दानपत्रमें,

जो उसके राज्यके १३वें वर्षमें लिखा गया है, आचार्य वीरदेवकी सम्मतिसे पेब्बोल्ल नामक गाँवमें मूलसंघ-द्वारा प्रतिष्ठापित जिनालयको कुमारपुर नामक गाँव तथा अन्य जमीन देनेका उल्लेख है। तडंगल माधवने यह उस समय दिया जब वह ब्राह्मण धर्मके पुनरुत्थानके लिए विख्यात था। यह बात विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। एक-दूसरे लेखमें उसे चिरकालसे बन्द यज्ञोंका पुनरुद्धारक तथा कलियुगकी दलदलमें फँसे हुए वृषभको निकालनेके लिए उत्सुक कहा है। ये कथन प्राथमिक गंगराजाओंके शासनमें जैन प्रभुत्वके उन दिनोंके परिचायक हैं जब जैन धर्मकी शक्तिके कारण वैदिक धर्म और ब्राह्मणप्रभुत्व पृष्ठभूमिमें फेंक दिये गये थे।[1]

राजा तडंगल माधवका उत्तराधिकारी उसका पुत्र अविनीत था, वह निःसन्देह जैन था। नोणमंगल दानपत्रसे, जो उसके राज्यके प्रथम वर्षमें जारी किया गया था, इस बातका समर्थन होता है। इस दानपत्रमें अविनीतको 'श्रीमत् कोंगुणिवर्मा धर्म-महाराजाधिराज' लिखा है और लिखा है कि उसने अपने गुरु परम अर्हत् विजयकीर्तिके उपदेशसे मूलसंघके चन्द्रनन्दि आदिके द्वारा प्रतिष्ठापित उरणूर जिनालयको वेन्नेल करनि गाँव और पेरूर एवानिअडिगल् जिनालयको बाहरी चुंगीका एक चौथाई कार्षापण दिया। श्री राईसने इस ताम्रपत्रका समय ४२५ ई० निश्चित किया है। अविनीत जैन धर्मका अनुयायी था, यह बात मर्करासे प्राप्त ताम्रपत्रोंसे भी सिद्ध होती है। अविनीतका पुत्र दुर्विनीत भी एक उत्तम जैन था, यह एक १०५५-५६ ई० के लेखसे प्रमाणित होता है।

लु० राईसने प्रमाणित किया[2] है कि जैन वैयाकरण पूज्यपाद दुर्विनीतके गुरु थे। तुमकुर तालुकेके होब्बुरु स्थानसे प्राप्त हिरेमठ ताम्रपत्रके आधारसे उक्त तथ्य प्रमाणित होता है। राईसने उसका समय ७०० ई० निर्धारित किया है। इसमें दुर्विनीतको 'शब्दावतारकारदेव भारतीनिबद्धबृहदप (क) था' लिखा है। राईसने इसका अर्थ किया है – 'शब्दावतारके रचयिता देवकी वाणीसे बृहत् पथको निबद्ध करनेवाला।'

किन्तु स्वर्गीय नरसिंहाचार्यने राईसके उक्त अर्थको मान्य नहीं किया। उन्होंने लिखा कि शब्दावतारकार और देवभारती निबद्धबृहत्कथा ये दोनों दुर्विनीतके विरुद थे। क्योंकि दुर्विनीतने शब्दावतारकी रचना की थी और गुणाढ्यकी बृहत्कथाको संस्कृतमें अनूदित किया था।[3] इसका आधार दुर्विनीतका

१. मिडि० जै०, पृ० १७-१८। जै० शि० सं०, भाग २, लेख नं० ९०,९४।

२ मि० जै०, पृ० १९–२०।

३ कर्नाटक कविचरिते १, पृ० १२–१३।

गुम्मरेड्डिपुर दानपत्र है जो उसके राज्यके ४०वें वर्षका है। इसमें स्पष्ट कहा है — शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धवड्डकथेन, किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन। किन्तु इससे भी कठिनाईका अन्त नहीं होता क्योंकि इस-पर-से यह नहीं कहा जा सकता कि पूज्यपाद दुर्विनीतके गुरु नहीं थे। किन्तु इसके साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि किसी भी शिलालेखमें पूज्यपादको दुर्विनीतका गुरु नहीं लिखा है। इसमें सन्देह नहीं कि काडगट्टूर पत्रमें जिसका समय राईसने ४८२ ई० बतलाया है, दुर्विनीतको 'स्वगुरुगुणानु-गामिना' अपने गुरुके गुणोंका अनुगमन करनेवाला लिखा है। किन्तु इससे यह ज्ञात नहीं होता कि पूज्यपादका दुर्विनीतके साथ कोई सम्बन्ध था।

श्री पूज्यपादके सम्बन्धमें श्रवण बेळगोळा[1] के शिलालेखोंसे ज्ञात होता है कि उनका प्राथमिक नाम देवनन्दि था, जो उनके गुरुने उन्हें दिया था, बुद्धिकी प्रकर्षकता और विपुलताके कारण वे जिनेन्द्र बुद्धि कहे जाते थे। और जबसे देवताओंने उनके चरणोंकी पूजा की तबसे वे पूज्यपाद हो गये।

नगर ताल्लुकके ४६ वें शिलालेखमें[2] पूज्यपादके चार ग्रन्थोंका निर्देश किया है जिनमें-से पहला ग्रन्थ जैनेन्द्र नामका न्यास है, दूसरा पाणिनीय व्याकरणपर लिखा हुआ शब्दावतार नामका न्यास है। तीसरा वैद्य शास्त्र और चौथा तत्त्वार्थ-सूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धि है। साथ ही उन्हें 'भूपालवन्द्य'—राजासे वन्दनीय भी लिखा है।

विक्रमकी १२वीं शताब्दीके कवि वृत्तविलासने अपने धर्मपरीक्षे नामके कन्नडी ग्रन्थमें पाणिनीय व्याकरणपर पूज्यपादके एक टीका ग्रन्थका उल्लेख किया है जो उक्त शब्दावतार न्यास ही जान पड़ता है। पाणिनीयकी काशिका

---

[1] यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥
—श्रवणबेल० शिला० न० ४०६४ तथा १०५ (२५४)

[2] 'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो न्यासं शब्दावतारं मनुजतति-हितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा। यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद-स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥

पूज्यपादके सम्बन्धमें विशेष जानकारीके लिए प्रेमीजी लिखित जैनसाहित्य और इतिहासका देवनन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण शीर्षक निबंध तथा वीरसेवा मन्दिर देहलीसे प्रकाशित 'समाधितन्त्र और इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थकी मुख्तार श्री जुगल-किशोर लिखित प्रस्तावना देखना चाहिए।—ले०

वृत्तिपर जिनेन्द्र बुद्धिका एक न्यास है। किन्तु एक तो जिनेन्द्र बुद्धि नामके साथ बोधिसत्वदेशीयाचार्य नामक पदवी लगी पायी जाती है। दूसरे, शिलालेखमें न्यासका नाम शब्दावतार बतलाया है। और उसे काशिका वृत्तिका नहीं, बल्कि पाणिनीयका न्यास बतलाया है। अत पूज्यपादरचित शब्दावतार न्यास कोई अन्य ग्रन्थ होना चाहिए। पूज्यपाद प्रसिद्ध वैयाकरण थे। उन्होने जैनेन्द्र व्याकरणकी रचना की थी। मुग्धबोधकर्ता वोपदेवने जिन आठ वैयाकरणोंके नामोका उल्लेख किया है उनमें एक जैनेन्द्र भी है। अनेक जैन ग्रन्थकारोने उनका स्मरण इसी रूपमें किया है। अत यदि उन्होने शब्दावतार नामक न्यास रचा हो तो कोई आश्चर्य नही है।

किन्तु जब हम दुर्विनीतकी ओर देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि वह व्याकरणकार नहीं। कहीं भी उसे महान् वैयाकरण नहीं कहा है। उसके द्वारा जारी किये गये नल्लाड ताम्रपत्रमें उसकी साहित्यिक योग्यताका विवरण विस्तारसे दिया है। किन्तु उसमें भी उसके व्याकरण विषयक वैदुष्यके विषयमें कुछ भी नही कहा। यदि दुर्विनीत एक महान् वैयाकरण होता तो ताम्रपत्रोंका लेखक उसके इस वैदुष्यका उल्लेख अवश्य करता। जैसे शिवमारके सम्बन्धमें कहा है कि वह पाणिनि व्याकरणरूपी समुद्रको पार करनेमे कुशल था। दुर्विनीतके विषयमें इस प्रकारके कथनके अभावसे यह प्रमाणित होता है कि वह व्याकरणका मौलिक रचयिता नही था।[1] तब गुम्मरेड्डीपुरके ताम्रपत्रमें जो उसे शब्दावतारकार कहा है उसकी सगति कैसे बैठाई जाये? इस प्रश्नका समाधान करते हुए श्री सालेतोरने लिखा[2] है—हम जानते हैं कि दुर्विनीत पक्का जैन था, उसने किरातार्जुनीयपर सस्कृत टीका लिखी थी और गुणाढ्यकी बृहत्कथाका सस्कृतमें रूपान्तर किया था। अत यह अनुमान करना अनुचित नही होगा कि उसने अपने गुरुके प्रति आदरभाव प्रकट करनेके उद्देश्यसे पूज्यपादके शब्दावतारको कन्नडमें निबद्ध किया हो और इसका मतलब यह होगा कि हमें पूज्यपादको दुर्विनीतका समकालीन अर्थात् पाँचवी शताब्दीके उत्तरार्ध और छठी शताब्दीके प्रारम्भका विद्वान् मानना होगा।

श्रीराम स्वामी आयगरने लिखा है[3] कि मुष्कर या मुखरके राज्य कालमें जैनधर्म राज्यधर्म हो गया था। उसके पूर्वजोमें से केवल तीसरे और चौथे राजाको छोडकर शेष निश्चय ही जैन धर्मके अनुयायी थे। उसका उत्तराधिकारी

१-२ मि० जै०, पृ० २२-२३।

३ स्ट० सा० इ० जै०, पृ० ११०।

अविनीत जैन था और अविनीतका उत्तराधिकारी दुर्विनीत प्रसिद्ध जैन वैयाकरण पूज्यपादका शिष्य था।

किन्तु देवरहल्लिसे[1] प्राप्त ताम्रलेखमें मुष्करको दुर्विनीतका पुत्र लिखा है। मुष्करके पुत्रका नाम श्री विक्रम और श्री विक्रमके पुत्रका नाम भूविक्रम था। सौ युद्धोंमें जीतनेसे प्राप्त लक्ष्मीका विलास करनेसे भूविक्रमको राजश्रीवल्लभ भी कहते थे। इनके अनुजका नाम नवकाम था। इसके पश्चात् कोंगुणि-महाराज शिवमार प्रथमका पौत्र श्री पुरुष हुआ। शक सं० ६९८ के बीत जाने-पर उसके राज्यका ५० वाँ वर्ष चालू था। अतः श्री पुरुषका राज्यकाल ७२६-८०१६ ई० बतलाया है। श्री शर्माने लिखा है कि ८ वीं शताब्दीके श्रीपुरुषके दानपत्रमें अनेक जैन गुरुओंका उल्लेख है। उसने कन्दाच्चीके द्वारा बनवाये गये लोकतिलक नामके जिनालयको निर्गुण्ड देशमें स्थित पोन्नली नामक गाँव दानमें दिया था। कन्दाच्ची पल्लवाधिराजकी पुत्री और परमगूल निर्गुण्ड राजा-की पत्नी थी।

श्री पुरुषके पुत्र श्री शिवमारदेव द्वितीय थे। शिलालेख नं० १२२ में इनकी बहुत प्रशंसा की गयी है। इन्होंने एक जैन मन्दिरका निर्माण कराया था। श्री सालेतोरने लिखा है कि शिवमारने प्राचीन गंग नरेशोंकी जैन परम्पराको चालू रखा। उसके एक ताम्रपत्रसे प्रमाणित होता है कि वह स्वयं जैन था। उसमें लिखा है कि उसने चन्द्रसेनाचार्यके जैन मन्दिरकी सेवाके लिए केलिल पुसुगर गाँवकी कुछ भूमि प्रदान की थी।

श्री पुरुषके पुत्र शिवमार द्वितीय और दुग्गमार जैन धर्मके प्रति बहुत अभिरुचि रखते थे। शिवमार द्वितीय स्वयं जैन धर्मका पक्का समर्थक था। उसने श्रवण बेलगोलाकी छोटी पहाड़ीपर एक बसदि बनवायी थी। चन्द्रनाथ स्वामी बसदिके पाससे प्राप्त एक पत्थरपर कन्नडमें 'शिवमारन बसदि' अंकित है।

राजा शिवमार द्वितीय सैगोट्टका छोटा भाई दुग्गमार ऐरेयप्प भी जैन था। मैसूर जिलेके हेग्गडे दवन ताल्लुकेके हेब्बलगुप्पेके आजनेय मन्दिरके निकटसे प्राप्त शिलालेखमें लिखा है कि श्री नरसिंगेरे अप्पर दुग्गमारने स्थानीय जैन-मन्दिर (कोइल बसदि) को अमुक भूमि प्रदान की। शिलालेखमें बसदिका बनानेवाले कर्मकार नारायणका भी नाम लिखा है। और लिखा है कि बसदिके व्ययके लिए तीन गाँवोंके आदमियोंने भी उतनी ही भूमि प्रदान की जितनी गंगनरेशने प्रदान की। आजनेय मन्दिरके शिलालेखका समय डॉ० कृष्णने

---

[1] जै० शि० सं० भाग २, लेख नं० १२१।

८२५ ई० निर्धारित किया है।[1]

शिवमार द्वितीयका राज्य निश्चय ही गगवशके लिए दुर्भाग्यपूर्ण था। उसके राज्यकालमें राष्ट्रकूटोने गगवाडीपर आक्रमण करके तीन बार उसे अपना कैदी बनाया। अन्तमें उसे राष्ट्रकूटोके सामन्तके रूपमें शासन करनेकी आज्ञा मिली। इस राजाके सम्बन्धमें लेख[2] न० १८२में लिखा है कि यह राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम (८१४–८७७ ई०) का पंच महाशब्दधारी महामण्डलेश्वर था। उसने कलभावीमें एक जैन मन्दिर बनवाकर उसके लिए एक गांव दानमें दिया था। यह घटना नौवी शताब्दीके उत्तरार्ध कालकी है जब राजा ध्रुव निरूपम धारावर्षके शासनकालमें राष्ट्रकूटोने कर्नाटककी राजनीतिमें सफलता पूर्वक हस्तक्षेप किया। यद्यपि यह हस्तक्षेप गंग साम्राज्यके लिए अति विघातक था, किन्तु जैन धर्मके लिए तो लाभदायक ही प्रमाणित हुआ। क्योंकि राष्ट्रकूटोने गगोका अनुसरण करते हुए जैन धर्मके सरक्षणको अपने हाथमें ले लिया[3]। इसके बाद भी जैन धर्मकी परम्परा गगवंशके नरेशोमें बराबर चलती रही।

श्री शर्माने लिखा[4] है कि एक कन्नड शिलालेखके अनुसार श्री पुरुषके पौत्र राचमल्ल प्रथमने उत्तरीय आर्काट जिलेके वन्देवश ताल्लुकेमें एक जैन गुफ़ाका निर्माण कराया था। उसके पुत्र एरेगग नीतिमार्गको मारसिंहके कुडुलूर दानपत्रमें 'अर्हद् भट्टारकके चरण कमलोका भ्रमर' कहा है। नीतिमार्गके पुत्र राचमल्ल[5] द्वितीयने ८८८ ई० में अपने राज्यके १८वें वर्षमें सत्यवाक्य जिनालयके लिए भट्टारक सर्वनन्दिको १२ गांव दानमें दिये थे। उसे परम जैन बतलाया है और लिखा है कि कलियुगके प्रभावसे उसने अपनेको अछूता रखा है। उसका विवाह जैन धर्मके महान् सरक्षक राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्षकी कन्या चन्द्रोबलब्बसे हुआ था। लेख न० १३८से ज्ञात होता है कि सत्य वाक्य (राचमल्ल द्वितीय) तथा उसके भतीजे एरेयप्परस (चतुर्थ) ने कुमारसेन भट्टारकको दान दिया था। लेख न० १३९के अनुसार एरेयप्परसके पुत्र नीतिमार्ग अर्थात् राचमल्ल तृतीयने वनकगिरि तीर्थवसदिको दूनाकर भट्टारक कनक सेनको दान दिया था।

---

१. मि० जै०, पृ० २५।
२ जै० शि० स०, भाग २।
३ मि० जै०, पृ० २६।
४ जै० कर्ना० क०, पृ० १७।
५. जै० शि० स०, भाग २, लेख न० १३१।

पश्चात् हम जैन धर्मके सर्वाधिक शानदार प्रतिनिधि गंगनरेश मारसिंह और उनके उत्तराधिकारी राचमल्ल चतुर्थकी ओर आते हैं।

मारसिंहके पिता[1] बुत्तुगको गंगगांगेय – गंगोंमें गंग कहा गया है। मारसिंह-के कुडुलूर दानपत्रमें कहा है कि बुत्तुगने शास्त्रीय युक्तिरूपी प्रचण्ड वज्रपातसे एकान्तमत रूपी हाथियोंके गण्डस्थलको विदारित कर दिया था। बुत्तुग राचमल्ल तृतीयका भाई एवं उत्तराधिकारी था। तथा राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय अकाल वर्ष (९३८–९६६ ई०) का बहनोई और सामन्त राजा था। उसने अपनी पत्नीके द्वारा निर्मापित एक जैन मन्दिरके लिए कुछ भूमि दानमें दी थी। उसके पुत्र और मारसिंहके भ्राता मरुलके सम्बन्धमें लिखा है कि वह जिनेन्द्रके चरण कमलोंका चचरीक था। किन्तु गंगवंशका नायक तो मारसिंह था।

मारसिंह

मारसिंह सचमुचमें एक वास्तविक राजा था। उसने ९६१ ई० से ९७४ ई० तक राज्य किया। विभिन्न शिलालेखोंमें सत्यवाक्य कोंगुणि वर्मा, धर्म महाराजाधिराज, गंग चूडामणि, चलदुत्तरंग, माण्डलिक त्रिनेत्र, गंगविद्याधर, गंगकन्दर्प, गंगवज्र और गंगसिंह आदि उसके विरुद पाये जाते हैं, इन विरुदोंसे प्रकट होता है कि उसने अपने जीवन कालमें कितना सम्मान पाया था और उसके वंशमें उसकी क्या स्थिति थी।

श्रवण वेलगोलाके चिक्कबेट्ट स्थित ब्रह्मदेव स्तम्भपर अंकित शिलालेखमें, जिसका काल ९७४ ई० है, स्याद्वाद सिद्धान्तके लिए मारसिंहके द्वारा किये गये कार्योंका विस्तृत वर्णन है। उसके सैनिक कार्योंका विवरण देनेके बाद लिखा है कि उसने जिनेन्द्र देवके सिद्धान्तोंको सुनियोजित किया और अनेक स्थानोंपर वसदियों और मानस्तम्भोंका निर्माण कराया। लेख नं० १४९ के अनुसार उसने पुल्लिगेरे नामक स्थानमें एक जिनमन्दिर बनवाया जो इसके नामपर 'गंग कन्दर्प जिनेन्द्र मन्दिर' कहलाता था। लेख न० १५२के अनुसार उसने अनेक पुण्यकार्य किये और जैनधर्मके उत्थानमें बड़ा योग दिया। अन्तमें लिखा है कि उसने राज्यका परित्याग करके बंकापुरमें अजितसेन भट्टारकको उपस्थितिमें सल्लेखना धारण की।

धारवाड़के निकट लक्ष्मेश्वरके शंख वसदिके दानपत्रमें उसे एक ऐसा रत्न-खचित कलश बतलाया है जिससे निरन्तर जिनेन्द्रदेवका अभिषेक किया जाता

1. ए० क०, जि० १०, पृ० १८।

है। कुडुलूर[1] दानपत्रमें उसे जिनके चरण कमलोका मधुकर, जिनके प्रतिदिन किये जानेवाले अभिषेकसे समस्त दोषोको धो डालनेवाला, गुरुभक्त, व्याकरण, तर्क, दर्शन और साहित्यका पण्डित तथा अश्व विद्या और गज विद्यामें निपुण बतलाया।

मारसिंहकी परोपकारिता केवल अनेक स्थानोमें जिनालयोके निर्माण तक ही सीमित नहीं है। किन्तु उसने अनेक जैन विद्वानोको भी सरक्षण दिया था। उन्हींमें-से एक ब्राह्मण विद्वान् श्रीधर भट्टका पुत्र मुजार्य वादिघंगल भट्ट था। कुडलूरके ताम्रपत्रमें मारसिंहके श्रुतगुरु वादिघगल भट्टके सम्बन्धमें भी वर्णन मिलता है। वह बौद्धिक रत्नोका भण्डार और प्रतिभारूपी मोतियोंकी खान था। थोडे-से ही प्रयत्न और परिश्रमसे उसे सब विद्याएँ इतनी जल्दी प्राप्त हुई कि ऐसा प्रतीत होता था मानो यह सब पूर्व जन्मके संस्कारका फल है। वह व्याकरण-का पण्डित तथा चार्वाक्, साख्य और बौद्ध दर्शनोके साथ तर्कशास्त्रका भी महान् विद्वान् था। जैन धर्ममें तो उसे वादिघगलका पद प्राप्त था। इसके अतिरिक्त वह कवि भी था। उसको मारसिंहने बगियूर नामका गाँव उपहारमें दिया था।

मारसिंह और उसके पुत्र राचमल्ल चतुर्थका मन्त्री और सेनापति प्रसिद्ध चामुण्डराय था। राचमल्ल चतुर्थने श्रवणबेलगोला निवासी अनन्तवीर्यके लिए पेग्गदूर नामक ग्राम तथा कुछ अन्य दान दिये थे। इसीके राज्यकालमें सेनापति चामुण्डरायने श्रवणबेलगोला नामक स्थानमें बाहुबलिकी प्रसिद्ध उत्तुगमूर्तिका निर्माण कराया था।

गगवशावलीमें अन्तिम प्रमुख नाम रक्कस गंग पेर्मानडि राचमल्ल पचमका है। वह९८४ ई० में राजसिंहासनपर बैठा और उसने पतनोन्मुख गग राज्यको बचानेका व्यर्थ प्रयास किया। रक्कस गग छन्दोम्बुधि और कन्नड कादम्बरीके रचयिता प्रसिद्ध कन्नड कवि नागवर्माका आश्रयदाता था। हुम्मचसे प्राप्त लेख न० २१३ से ज्ञात होता है कि नन्नि आदि शान्तर राजकुमारोकी अभिभाविका प्रसिद्ध जैन महिला चट्टलदेवी इसकी पत्नी थी। इसके गुरु द्रविडसघके विजयदेव भट्टारक थे। इस प्रकार गगवशके राजा प्रारम्भसे ही जैनधर्मके उपासक एव सरक्षक थे। साथ ही अपनी उदारताके कारण अन्य धर्मोंको भी सरक्षण प्रदान करते थे। इस वशके राज्यकालको जैनधर्मका स्वर्णयुग कहा जा सकता है। यद्यपि इस वशका अन्त सन्

१. मैसूर आर्क्योलॉजिकल रिपोर्ट १९२१, पृ० २२–२३।

१००४ में राजराज चोल प्रथमके युद्धमें हो गया तथापि यह यत्र-तत्र शाखाओंके रूपमें जीवित रहा।

गंग राज्यके नष्ट-भ्रष्ट होनेसे बहुत पहले भाग्यवश जैन धर्मको दो राजवंशोंका संरक्षण प्राप्त हुआ। उनमें-से एक था राष्ट्रकूटवंश और दूसरा था कदम्ब वंश। शिला लेखादिमें उनके सम्बन्धमें उपयोगी विवरण मिलता है।

२ कदम्बवंश

कदम्बवंश[1] मूलत ब्राह्मण धर्मका अनुयायी था। किन्तु उस वंशके कुछ राजा जैन धर्मके भक्त थे और उनके सहयोगसे कर्नाटकके जैन धर्मकी अभ्युन्नति हुई। कदम्ब कर्नाटकके ही वासी थे। कदम्बवंशका संस्थापक कोई मुक्कण्ण या त्रिनेत्र था, किन्तु उसकी वास्तविक उन्नतिका श्रेय प्रसिद्ध मयूर वर्मा (ईसाकी तीसरी शताब्दीका मध्य) को दिया जाता है। चौथी शताब्दीके अन्तमें इस राजवंशमें एक जैन धर्मका भक्त राजा हुआ। उसका नाम काकुत्स्थ वर्मा था। काकुत्स्थ वर्माके समयका केवल[2] एक लेख अबतक मिला है। उसमें लिखा है कि उसने ८० वें वर्षमें अपने एक जैन सेनापति श्रुतकीर्तिके लिए खेट ग्राममें बदोवर क्षेत्र दानमें दिया था।

इस लेखका प्रारम्भ जिनेन्द्रकी स्तुतिसे हुआ है और अन्तमें ऋषभ देवको नमस्कार किया है। खोजसे पता चलता है कि श्रुतकीर्ति एक जैन सेनापति था।

किन्तु श्री सालेतोरके इस मन्तव्यका कि काकुत्स्थ वर्मा जैन था, श्री एस० [3]आर० शर्माने विरोध किया है। उन्होंने लिखा है कि उसी काकुत्स्थ वर्माके अन्य दानपत्रोंको देखनेसे उसका स्थायी जैन होना प्रमाणित नहीं होता। श्रुतकीर्ति जैन था और उसने काकुत्स्थ वर्माकी जीवन रक्षा की थी। इसके उपलक्ष्यमें उसे भूमिदान प्राप्त हुआ था। इसीसे उस दानपत्रमें सम्भवतया गृहीताके सन्तोषके लिए जिनस्तुति की गयी है। काकुत्स्थ वर्माने ब्राह्मणोंको भी दान दिया था। किन्तु उन दानपत्रोंमें जिनस्तुति नहीं है। यदि वह पक्का जैन होता तो उनमें भी जिनस्तुति अवश्य अंकित कराता। श्री शर्माने कदम्बोंको ब्राह्मण धर्मका अनुयायी सिद्ध किया है। साथ ही यह भी लिखा है कि कदम्बोंके उदार राज्यशासनके अन्तर्गत कर्नाटकमें जैन धर्मकी अवश्य ही उन्नति हुई, यह उनके विविध दानपत्रोंसे प्रमाणित होती है। तथा यह स्पष्ट है कि अपने धर्मके

पक्षपाती होते हुए भी कुछ कदम्ब नरेश जैन धर्मके अत्यन्त निकट थे। उदाहरण के लिए काकुत्स्थ वर्माके पौत्र मृगेश वर्माने पांचवीं शताब्दीमें राज्य किया था। उसके राज्यके तीसरे वर्षमें राजधानी वैजयन्तीसे जारी किये गये एक ताम्रपत्र[1]में लिखा है कि राजा मृगेश वर्माने जिनालयकी सफाईके लिए, घृताभिषेकके लिए तथा जीर्णोद्धार आदिके लिए अमुक भूमि प्रदान की। यह दानपत्र महान् धर्मात्मा दामकीर्ति भोजकके द्वारा लिखा गया था। उसी राजाके द्वारा अपने राज्यकालके चतुर्थ वर्षमे जारी किये गये दानपत्र[2]में विशेष रूपसे उल्लेखनीय बात यह है कि उसमें जैनोके दोनो सम्प्रदायोका उल्लेख है। उसमें लिखा है कि अमुक गांव, अर्हन्त भगवान् तथा उनके उपासक श्वेतपट महा श्रमणसघ तथा निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघके लिए दिया गया। इसमें श्वेतपट श्वेताम्बर सप्रदायके लिए और निर्ग्रन्थ शब्द दिगम्बर सम्प्रदायके साधुओंके लिए व्यवहृत हुआ है।

एक अन्य ताम्र[3]पत्रके अनुसार मृगेश वर्माने अपने राज्यके आठवें वर्षमें अपने स्वर्गीय पिताकी स्मृतिमे पलासिका नगरमें एक जिनालय बनवाया था और उसे अमुक भूमि दानमें दी थी। यह दान उसने यापनीयो तथा कूर्चक सम्प्रदायके नग्न साधुओके निमित्तसे दिया था। इस दानके मुख्य गृहीता ऊपर लिखित जैनगुरु दामकीर्ति और सेनापति जयन्त थे।

मृगेश वर्माके उत्तराधिकारी राजा रवि वर्माने भी अपने पिताका ही अनुसरण किया और जैन धर्मके बढते हुए प्रभावको अधिक स्पष्टताके साथ अगीकार किया। उसके एक ताम्रपत्रसे ज्ञात होता है कि उसने जैनधर्मके लिए एक क़ानून बनाया था। उसमे लिखा[4] है – 'पलासिका राजधानीमें राजा रविवर्माने यह नियम निर्धारित किया कि राजा मृगेश वर्माके द्वारा दामकीर्तिकी माताको दिये गये पुरुखेटक ग्रामकी आयसे प्रतिवर्ष कार्तिककी पूर्णिमातक अष्टाह्निक महोत्सव होना चाहिए। वर्षा ऋतुके चार महीनोमे साधुओकी सेवा होनी चाहिए। विद्वानों, जिनमें प्रमुख कुमारदत्त हैं जिन्होने तपस्या की और जिनका सम्प्रदाय उनके सत्कर्मोंका साक्षी है, न्यायानुसार समस्त सम्मानका उपभोग करें तथा जनपदके वासी और नागरिक नर-नारीगण निरन्तर जिनेन्द्र देवकी पूजा किया करें।'

---

१ जै० शि० स०, भाग २, लेख न० ९७।
२. वही, लेख न० ९८।
३ जै० शि० स० भाग २, लेख न० ९९।
४, वही, लेख न० १००। मिडि० जै०, पृ० ३३। जै० कर्ना० क०, पृ० १२।

ऊपर लिखित ग्राम दामकीर्तिके पुत्र बन्धुषेणको मिला था और उसने राजासे पूछकर अपने पिताकी माताको दे दिया था।

रवि वर्माके एक अन्य दानपत्रमें उसे कदम्बकुलगगनरवि लिखा है उसी दानपत्रमें यह भी लिखा है कि उसने काञ्चीके राजाको पछाडकर पलासिकामे अपनी राजधानी बनायी थी। रविवर्माके पितामह शान्ति वर्माको समस्त कर्नाटकका स्वामी भी लिखा है। इससे हाल्सी या पलासिकाके इन प्राचीन कदम्बोंकी राजनैतिक स्थितिका पता चलता है। अत जैन धर्मके प्रति उनकी व्यक्तिगत राजभक्तिने जनतामें जैन धर्मको फैलानेमें अवश्य ही काफी प्रभाव डाला। दानपत्रके अनुसार जिस प्रेरणाने रवि वर्माको उत्साहित किया, वह था अपने धार्मिक गुणोंमें वृद्धि करना।

रवि वर्माकी तरह उसका भाई भानु वर्मा भी जैन धर्मका भक्त था। एक दानपत्र[1] में उसने पूर्णमासीके दिन जिनदेवका अभिषेक करनेके निमित्तसे जैनोंको भूमिदान किया था। यह भूमि पलासिकामें थी और उसे पण्डर भोजकने स्वीकार किया था।

राजा रवि वर्माके पुत्रका नाम हरि वर्मा था। उसके राज्यकालके चतुर्थ वर्षमें जारी किये गये एक[2] दानपत्रके अनुसार जब राजा हरि वर्मा उच्च शृंगी पहाडीपर था, तब उसने अपने चाचा शिवरथके उपदेशसे कूर्चक सम्प्रदायके [3]वारिषेणाचार्यको वसन्तवाटक ग्राम दानमे दिया था। इस दानका उद्देश्य था — पलासिकामें भरद्वाजवंशीय सेनापति सिंहके पुत्र मृगेशके द्वारा बनवाये गये जिनालयमें वार्षिक अष्टाह्निक पूजाके अवसरपर घृताभिषेक किया जाना, तथा उससे जो धन बचे, उससे समस्त सम्प्रदायको भोजन कराना।

इसी राजाने अपने राज्यके पाँचवें वर्षमें सेन्द्रक वंशके राजा भानुशक्तिकी प्रार्थनासे धर्मात्मा पुरुषोंके उपयोगके लिए तथा एक मन्दिरकी पूजाके लिए मरदे नामका गाँव दानमें दिया था। वह मन्दिर श्रमण सम्प्रदायका था, जिसे अहरिष्टी (?) कहते हैं, और आचार्य धर्मनन्दि उसके प्रबन्धक[4] थे।

कदम्ब वंशका अन्तिम प्रमुख शासक देव वर्मा था। वह राजा कृष्ण वर्माका उत्तराधिकारी था। एक अन्य ताम्रपत्रके अनुसार युवराज देव वर्माने चैत्यालयको

१ जै० शि० सं०, भाग २, लेख नं० १०२।
२ जै० शि० सं०, भाग २, लेख नं० १०३।
३ इसका नाम ने वारिषेणाचार्य नाम दिया है।—जै० कर्नो० क०, पृ० १३।
४. जै० शि० सं०, भाग २, लेख नं० १०४।

मरम्मत तथा पूजाके लिए यापनीय संघको सिद्ध केदारमें कुछ भूमि प्रदान की थी। उस समय युवराज त्रिपर्वतमें निवास करते थे।

श्री शर्माने लिखा[1] है कि देव वर्माने अश्वमेघ यज्ञ किया था। डॉ० फ्लीटके अनुसार यह घटना दसवीं शताब्दीके बादकी नहीं है। अत. जब कदम्बोंने पुन. ब्राह्मण धर्मको अंगीकार कर लिया, तब भी उन्होंने जैन धर्मको संरक्षण प्रदान करना जारी रखा।

३ राष्ट्रकूट वंश

कदम्बोंके राज्यकालमें जैन धर्मको मिले साहाय्यका वर्णन करनेके पश्चात हम राष्ट्रकूटोंकी ओर आते हैं। पहले लिख आये हैं कि राजा शिवमार द्वितीय के राज्यकालमें राष्ट्रकूटोंने गगवाडीपर कब्जा करके गग नरेशोके द्वारा जैन-धर्मको सरक्षण देनेकी परम्पराको कायम रखा। राष्ट्रकूटोंका राज्य दो शता-ब्दियोसे कुछ अधिक समय तक ७५४–९७४ ई० रहा। उनमें-से भी कुछ राजा जैन धर्मके महान् सरक्षक थे। राष्ट्रकूटोंका समय दक्षिण और कर्नाटक देशोंके जैनोंके लिए बहुत समृद्धिकारक था।

जैन परम्परामें अकलंक देव एक प्रखर वाग्मी और ग्रन्थकार हुए हैं। श्रवणबेलगोलाकी मल्लिषेण प्रशस्तिमें उनके सम्बन्धमें अनेक श्लोक पाये जाते हैं, उनमें-से एक श्लोक साहसतुग राजाको सम्बोधित करते हुए अकलक देवके द्वारा कहलाया गया है।

अत उसके आधारपर श्री सालेतोरने लिखा[2] है कि आठवीं शताब्दीके राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्गने अकलक देवका सम्मान किया था। तथा अकलंक देव चरिते[3] में कहा है कि विक्रम सवत् ७०० में अकलंकका बौद्धोके साथ महान् शास्त्रार्थ हुआ था अत दन्तिदुर्गको साहसतुग मानना उचित है। उक्त प्रशस्ति श्लोकमें कहा[4] है—'हे राजा साहसतुग! सफेद छत्रके धारण करनेवाले

---

१. जैन० क० क० पृ० १४।

२ मिडि० जै०, पृ० ३४–३५।

३. 'विक्रमार्कशकाब्दीय शतसप्त प्रमाजुषि। कालेऽकलकयतिनो बौद्धैर्वादो महान-भूत्॥'

४ 'राजन् साहसतुग सन्ति बहवो श्वेतातपत्रा• नृपा-
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभा।
तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो
नाना शास्त्रविचारचातुरधिय• काले कलौ मद्विधाः॥

राजा अनेक हैं। किन्तु तुम्हारे समान युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाले राजा दुर्लभ हैं। उसी तरह विद्वान् भी अनेक हैं किन्तु इस कलिकालमें नाना शास्त्रोंके विचारमें चतुर बुद्धिवाले मेरे तुल्य वाग्मी और वादीश्वर नहीं हैं।'

श्री शर्माने लिखा है कि 'दिगम्बर जैन कथाकोशके अनुसार अकलंक शुभतुंग राजाके पुत्र थे और शुभतुंगकी राजधानी मान्यखेट थी। शुभतुंग कृष्णराज प्रथमकी उपाधि थी और मान्यखेट राष्ट्रकूटोंकी राजधानी थी।' किन्तु यह केवल परम्परा है और यथार्थमें शुभतुंग कौन था, यह स्थापित कर सकना सरल नहीं है। तथापि, उक्त कथन एकदम निर्मूल नहीं है। अकलंक चरितमें अकलंकको शुभतुंग राजाके मन्त्री पुरुषोत्तमका पुत्र लिखा है। तथा श्रवणबेलगोलाके एक शिलालेखमें कहा है कि 'अकलंकने शुभतुंग (साहसतुंग) की सभामें पण्डितोंको शास्त्रार्थके लिए ललकारा। इस सबसे स्पष्ट है, कि अकलंक देवका राष्ट्रकूट नरेशसे घनिष्ठ सम्बन्ध था, जिसका नाम आग्रहपूर्वक लिया गया है। यह सम्भव है कि वह आठवीं शताब्दीमें कृष्णराज प्रथमके दरबारमें उपस्थित हुए हों, जैसा कि प्रो० हीरालालजीने लिखा है।'

इस तरह प्रशस्ति श्लोकमें आगत पद 'साहसतुंग' के आधारपर श्री सालेतोर अकलंकको दन्तिदुर्गका समकालीन बतलाते हैं और शुभतुंग नामके आधारपर श्री शर्माजी कृष्णराज प्रथमका समकालीन मानते हैं। दन्तिदुर्ग इन्द्रराज (द्वितीय) का पुत्र था और उसके बाद राज्यका स्वामी हुआ था। रामेश्वर प्रोद्दटूर तालुका कुडप्पाह जिला मद्रासके रामलिंगेश्वर मन्दिरके प्रांगणमें स्थित स्तम्भ लेखमें कृष्ण तृतीय तकके राष्ट्रकूट वंशके राजाओंकी विरुदावली है। उसमें लिखा है कि 'एक राष्ट्रकूट नामका राजा हुआ। उसके कुलमें दन्तिदुर्ग नामका राजा हुआ। उसने चालुक्यरूपी समुद्रका मथन करके उनकी लक्ष्मीको चिरकाल तक अपने कुलकी कान्ता बनाया। जब वह साहसतुंग नामधारी दन्तिदुर्ग युवावस्थामें ही स्वर्गवासी हो गया तब चालुक्योंसे प्राप्त वह राज्यलक्ष्मी कृष्णराजके गुणोंपर मोहित होकर चिरकाल तक उसका आलिंगन करती रही।'

इससे यह तो निश्चित हो जाता है कि साहसतुंग दन्तिदुर्गकी उपाधि थी। किन्तु अकलंकके समयके सम्बन्धमें एक शताब्दीका मतभेद है। स्व० डॉ० पाठक, स्व० डॉ० विद्याभूषण, स्व० डॉ० आर० जी० भण्डारकर, पिटर्सन, लुइस

राईस, डॉ० विण्टरनिट्ज, श्री प० नाथूराम प्रेमी, प० सुखलालजी तथा डॉ० सालेतोर आदि उन्हें आठवीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं किन्तु आर० नरसिंहाचार्य, प्रो० एस० श्रीकण्ठ शास्त्री, प० जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, तथा इन पक्तियोंका लेखक उन्हें सातवीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं। अत. यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि अकलक देवको उक्त राष्ट्रकूट नरेशोके द्वारा सम्मान प्राप्त हुआ था।। अस्तु,

राष्ट्रकूट[1] नरेश गोविन्द तृतीय जैन धर्मका सरक्षक था। ई० ८०२के मण्णे दानपत्रसे ज्ञात होता है कि जब सौचकम्भदेव अपने छोटे भाई गोविन्द राज तृतीयके अधीनस्थ राज्य करते थे तो उन्होने महासामन्त श्री विजयके द्वारा मान्यपुरके पश्चिमीय भागमें बनवाये गये जिनालयके लिए पदरियूर दसवें भागके साथ पेर्व्वाडियूर नामका गाँव दानमें दिया था। तथा चामराज नगरसे प्राप्त ८०७ ई० के अपूर्ण ताम्रपत्रसे ज्ञात होता है कि जब रणावलोक कम्भराज तडवन नगरके अपने विजय कैम्पमें स्थित था, उसने अपने पुत्र शकरगणकी प्रार्थनासे तडवनपुरमें स्थापित श्री विजय बसदिके लिए कोण्डकुन्दान्वयके कुमार-नन्दि भट्टारकके प्रशिष्य और एलाचार्य गुरुके शिष्य दयालु, धार्मिक विद्वान् वर्धमान गुरुको बदनगुप्पे नामक गाँव दानमें दिया था। यह बसदि सम्भवतया वही है जिसका निर्माण महासामन्त श्री विजयने कराया था।

गोविन्द[2] तृतीयने भी विजयकीर्तिके शिष्य अरिकीर्तिको दान दिया था। और जिनसेनने अपना हरिवश पुराण[3] गोविन्द तृतीयके पिता श्रीवल्लभके राज्य-कालमें रचकर पूर्ण किया था।

गोविन्द तृतीयका पुत्र अमोघवर्ष प्रथम (८१५–८७७ ई०) जैन धर्मका महान् उन्नायक, सरक्षक और आश्रयदाता था। नृपतुग, महाराज शर्व, महाराज शण्ड, अतिशय धवल, वीरनारायण, पृथ्वीवल्लभ, श्रीपृथ्वीवल्लभ, लक्ष्मी वल्लभ, महाराजाधिराज, परम भट्टारक आदि उसकी उपाधियाँ थीं। शक स० ७८८की प्रशस्तिके अनुसार इसका राज्यारोहण समय शक स० ७३६ (वि० स० ८७१ = ८१५ ई०) के करीब आता है। गुणभद्राचार्यकृत उत्तर पुराणमें लिखा है –

यस्य प्रांशु नखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भव-
त्पादाम्भोजरज पिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।

१ मिडि० जैनि०, पृ० ३७।

२ जै० कर्ना० क०, पृ० ३०। भारतके प्राचीन राजवश, भाग ३, पृ० ३८।

३ 'पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।'

सस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं
स श्रीमाञ्जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥

अर्थात् – जिनको प्रणाम करनेसे राजा अमोघवर्ष अपनेको पवित्र समझता था, वे जिनसेनाचार्य जगत्के मंगलरूप हैं।

इससे ज्ञात होता है कि यह राजा दिगम्बर जैन मतका अनुयायी और जिनसेनका शिष्य था। जिनसेन रचित पार्श्वाभ्युदयसे भी इसकी पुष्टि होती है। इन्हीं जिनसेनने आदि पुराण (महापुराणका पूर्वार्ध) की रचना की थी। जिनसेनके गुरु वीरसेनने शक सं० ७३८में जब धवला[1] टीका समाप्त की तब जगत्तुंगदेव (गोविन्द तृतीय) ने सिंहासन छोड़ दिया था और बोद्दणराय या अमोघवर्ष राज्य करते थे। अमोघवर्षने बड़ी उम्र पायी और लगभग ६३ वर्ष राज्य किया। शक सं० ७३५में जब धवलाकी समाप्ति हुई तब ये ही राजा थे और शक सं० ७७०के लगभग जब जिनसेनने आदि पुराणको अधूरा छोड़कर स्वर्गवास किया तब भी इन्हींका राज्य था। शक सं० ७८२के ताम्रपत्रसे मालूम होता है कि [2]इन्होंने मान्यखेटमें जैनाचार्य देवेन्द्रको दान दिया था। यह दानपत्र इनके राज्यके ५२वें वर्ष का है। इसके बाद शक सं० ७९९का एक लेख कन्हेरीकी एक गुफामें मिला है जिसमें इनका और इनके सामन्त कपर्दी द्वितीयका उल्लेख है। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि इससे कुछ पहले ही अमोघवर्षने अपने पुत्र अकालवर्ष या कृष्ण द्वितीयको राज्यकार्य सौंप दिया था। क्योंकि शक सं० ७९७का एक लेख कृष्ण द्वितीयके महासामन्त पृथ्वीरायका मिला है जिसमें उसके द्वारा सौंदत्तिके एक जैन मन्दिरके लिए कुछ भूमिदान किये जानेका उल्लेख है। अपने पिताके समान अमोघवर्षने भी पिछली उम्रमें राज्य त्याग दिया था। इसका उल्लेख उन्होंने अपनी प्रश्नोत्तर रत्नमाला[3]

1 [illegible] ॥८॥
[illegible] ॥९॥
[illegible] ॥१०॥ – धवला प्रशस्ति।

2 [illegible]

3 [illegible] ॥

नामकी पुस्तकके अन्तमें किया है। लिखा है जिसने विवेकपूर्वक राज्य छोड़ दिया उस राजा अमोघवर्षने इसकी रचना की। इस रत्नमालाका अनुवाद तिब्बती भाषामें भी हुआ था। उससे भी यही प्रकट होता है कि इसका कर्ता अमोघवर्ष ही था।

अमोघवर्षने[1] ही मान्यखेट नगरीको बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया था। इसके पहले राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मयूर खण्डी (नासिकके पास) में थी। यह राजा स्वयं विद्वान्, कवि और विद्वानोंका आश्रयदाता था। प्रश्नोत्तर रत्नमालाके अतिरिक्त कविराजमार्ग नामक अलंकार ग्रन्थ भी कनड़ी भाषामें इसीका बनाया हुआ कहा जाता है। शाकटायनने अपने शब्दानुशासनकी टीका अमोघवृत्ति अमोघवर्षके नामसे बनायी थी। षट्खण्डागमकी धवला टीका तथा कसाय पाहुडकी जयधवला टीका भी अमोघवर्षके ही अतिशय धवल या धवल नामके उपलक्ष्यमें बनी। महावीराचार्यने अपने गणितसार संग्रहमें अमोघ-वर्षकी महिमाका विस्तार करते हुए उसे स्याद्वाद सिद्धान्तका अनुगामी कहा है। इससे प्रकट है कि राजा अमोघवर्ष जैन धर्मका अनुयायी होनेके साथ जैन विद्वानोंका भी महान् आश्रयदाता था। उसने जैन मुनियोंको अनेक दान दिये थे। डॉ० भण्डारकरने लिखा[2] है – कि सब राष्ट्रकूट राजाओंमें अमोघवर्ष जैन धर्मका महान् संरक्षक था और यह बात सत्य प्रतीत होती है कि उसने स्वयं जैन धर्मको धारण किया था।

एक शिलालेखमें लिखा है कि आश्विन महीनेकी पूर्णिमाको सर्वग्रासी चन्द्र-ग्रहणके अवसरपर शक सं० ७८२ बीत चुका था और जगत्तुंगके उत्तराधिकारी राजा अमोघवर्ष प्रथम राज्य करते थे। उन्होंने अपने अधीनस्थ राज्यकर्मचारी बंकेयकी महत्त्वपूर्ण सेवाके उपलक्ष्यमें कोलनूरमें बंकेय-द्वारा स्थापित जिनमन्दिरके लिए देवेन्द्र मुनिको पूरा तलेयूर गाँव और दूसरे गाँवोंकी कुछ जमीन दानमें दी। ये देवेन्द्र मुनि पुस्तक गच्छ देशीयगण मूलसंघके त्रैकाल्य योगीशके शिष्य थे। यह बंकेय वही है जिसके नामसे बंकापुर राजधानी बनायी गयी थी। इसी बंकेयके पुत्र सामन्त लोकादित्यके समयमें, जब अमोघवर्षका पुत्र कृष्ण द्वितीय राज्य करता था, गुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराणकी पूजा हुई थी।

राजा अमोघवर्षका पुत्र कृष्ण द्वितीय भी जैन धर्मका भक्त था। गुणभद्रा-

---

१ 'यो मान्यखेटममरेन्द्रपुरोपहासि, गीर्वाणगर्वमिव खर्वयितु विधत्त।'
– इ० एण्टि०, जि० ५, पृ० १६४

२. जै० कर्ना० क०, पृ० ३२।

पार्श्वकृत उत्तरपुराणकी[1] दूसरी प्रशस्तिके अनुसार इसके हाथियोंने अपने मदजलसे गंगाका पानी भी कडुआ कर दिया था। अर्थात् इसका राज्य उत्तरमें गंगातट तक पहुँच गया था। उत्तरपुराणकी[2] दूसरी प्रशस्ति जिस समय (शक सं० ८२०) लिखी गयी उस समय यही सम्राट् था। यह अकालवर्षके नामसे प्रसिद्ध था। यह शक सं० ७९७के लगभग सिंहासनपर बैठा और ८३३के लगभग इसका देहान्त हुआ।

श्रवणबेलगोलाके पार्श्वनाथ वसदिके शिलालेखमें लिखा है कि कृष्णराजकी सभामें जैनाचार्य परवादिमल्लने अपने नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की थी— 'गृहीतपक्षसे इतर 'पर' है। उनका जो प्रतिपादन करते हैं वे परवादि हैं। उनका जो खण्डन करता है वह परवादिमल्ल है। यही मेरा नाम है।'

कुछ अन्य[3] शिलालेखोंमें भी इस घटनाका वर्णन पाया जाता है।

मारसिंहके कडलूर दानपत्रके आधारपर हम पूर्वमें लिख आये हैं कि वह जैन विद्वान् वादिघंगल भट्टका बड़ा सम्मान करता था। कृष्णराज तृतीय भी उसको बहुत मानता था। कृष्णराज तृतीय शान्तिपुराण और जिनाक्षरमालेके रचयिता पम्प कवि पोन्नका भी आश्रयदाता था और उसने कविको, उभयभाषाकविचक्रवर्तीके पदसे विभूषित किया था। पुष्पदन्तने अपने महापुराणकी उत्थानिकामें कहा है कि इस समय 'तुडिगु महानुभाव' राज्य कर रहे हैं। इस 'तुडिगु' शब्दपर 'कृष्णराज' टिप्पण दिया हुआ है। सबसे पहले पुष्पदन्तको हम मेलाडि या मेल्पाटीके एक उद्यानमें पाते हैं। मेलाडि उत्तर आर्काट जिलेमें है। वहाँ कुछ समय तक कृष्णराज तृतीयका कटक रहा था। वहीं उनका भरत मन्त्रीसे साक्षात् हुआ था। भरत मन्त्रीको पुष्पदन्तने 'प्राकृत कवि काव्य रसावलुब्ध' कहा है। पुष्पदन्तने दो आश्रयदाताओंका उल्लेख किया है—एक भरतका और दूसरे उसके पुत्र नन्नका। ये दोनों कृष्णराज तृतीयके महामात्य थे। इन्होंने अपने नागकुमार चरितमें स्पष्ट रूपसे मान्यखेटको 'श्री कृष्णराजकी खड्गधारासे दुर्गम' कहा है। अर्थात् उस समय कृष्ण तृतीय जीवित थे। कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूटवंशके सबसे प्रतापी राजा थे। करहाडके ताम्रपत्रोंके अनुसार

1. [illegible]

उन्होंने पाण्ड्य और केरलको हराया। सिंहलसे कर वसूल किया और रामेश्वरमें अपनी कीर्तिवल्लरीको लगाया। ये ताम्रपत्र मई सन् ९५९ (शक स० ८८१) के हैं। और उस समय लिखे गये हैं जब कृष्णराज अपने मेलपाटीके शिविरमें ठहरे हुए थे और अपना जीता हुआ राज्य और धन रत्न अपने सामन्तो और अनुगतोंको उदारतापूर्वक बाँट रहे थे। इसके दो ही महीने बाद लिखी हुई श्री सोमदेव सूरिकी यशस्तिलक प्रशस्तिसे भी इसका समर्थन होता है। सोमदेवने अपना [1]यशस्तिलक जब समाप्त किया तब कृष्णराज तृतीय अपने मेलपाटी-के सेना शिविर में थे।

[2]पुष्पदन्त ब्राह्मण थे, उनके माता पिता पहले शैव थे। परन्तु पीछे किसी दिगम्बर जैन गुरुके उपदेशसे जैन हो गये और अन्तमें उन्होंने सन्यासपूर्वक मरण किया।

जैन ग्रन्थकार इन्द्र नन्दिने अपना ज्वालामालिनी स्तोत्र मान्यखेटमें शक स० ८६१में रचा था। उस समय कृष्ण तृतीयका शासन था।

अमोघवर्ष तृतीय या बद्दिगके तीन पुत्र थे — तुडिगु या कृष्ण तृतीय, जगत्तुंग और खोट्टिगदेव। कृष्ण सबसे बड़े थे जो अपने पिताके बाद गद्दीपर बैठे। और जगत्तुंग उनसे छोटे थे तथा उनके राज्यकालमें ही स्वर्गवासी हो गये थे, इसलिए तीसरे पुत्र खोट्टिगदेव गद्दीपर बैठे क्योंकि कृष्णके पुत्रका इस बीच देहान्त हो गया था और पौत्र छोटा था। खोट्टिग[3] नित्यवर्ष ९६८ ई० में गद्दीपर बैठा और उसने ९७१ ई० तक राज्य किया। वह जैन धर्मका अनुयायी था। इसका समर्थन जिला कडप्पा, ताल्लुका जम्मल मदुगुके दान वुलमाडु ग्रामके मन्दिरके खण्डहरसे प्राप्त लेखसे होता है। उसमें लिखा है कि राजा नित्यवर्षने भगवान् शान्तिनाथके अभिषेकके लिए चौकी बनवायी।

अमोघवर्ष तृतीयके सबसे छोटे पुत्र निरुपमका लड़का और खोट्टिग देवका भतीजा कर्कराज द्वितीय अपने चाचा खोट्टिगके बाद राज्यका अधिकारी हुआ। कर्कराजकी राजधानी मलखेड थी और इसने गुर्जर, चोल, हूण और पाण्ड्य लोगोंको जीता था। यह राजा ई० ९७२ के लगभग गद्दीपर बैठा और

---

१ 'शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु (अंकत ८८१) सिद्धार्थ-संवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्यसिंहलचोलचेरम प्रभतीन् महीपतीन् प्रसाध्य मेल्पाटीप्रवर्धमान् राज्यप्रभावे श्रीकृष्णराज देवे सति" ।'

२. 'जैन साहित्य और इतिहास'में 'पुष्पदन्त' नामक लेखमें पुष्पदन्तका पूरा वृत्त दिया है।

३ मिडि० जै०, पृ० ४०।

९७३ ई०के करीब मौका पाकर चालुक्य वंशी राजा तैलप द्वितीयने कर्कराजपर चढ़ाई करके अपने पूर्वजोंके राज्यको पीछे हथिया लिया। इस प्रकार दक्षिणके राष्ट्रकूट राज्यकी समाप्ति हो गयी। कर्कराज द्वितीयके बाद राष्ट्रकूट राज्यको कायम करनेके लिये पश्चिमी गंगवंशी राजा मारसिंहने इन्द्रराज चतुर्थको राज्य दिलानेकी कोशिश की थी।

९८२ ई०में श्रवणबेलगोलामें उसने सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग किया था। श्रवणबेलगोलाके गन्धवारण बसदि तथा सोर तालुकेके कामगण्डमनहल्लीसे प्राप्त शिलालेखोंसे इसका समर्थन होता है।

चालुक्योंके द्वारा जैनधर्मको संरक्षण

दक्षिणके मध्यकालीन प्रमुख राजवंशोंमें चालुक्य राजवंशका नाम उल्लेखनीय है। छठी शताब्दीके मध्यमें पुलकेशी प्रथमने इसकी स्थापना की थी। उसकी राजधानी वातापी या बादामी थी, जो आज महाराष्ट्र प्रदेशके बीजापुर जिलेमें स्थित है। उसका पौत्र पुलकेशी द्वितीय (६०८-६४२) कन्नौजके राजा हर्षवर्धनका समकालीन था और हर्षवर्धनकी उत्तरभारतमें जो स्थिति थी वही स्थिति दक्षिणमें पुलकेशी द्वितीय की थी। किन्तु पल्लववंशके कांची नरेश नरसिंह वर्मनने पुलकेशी द्वितीयको पराजित कर दिया। इस घटनाके बत्तीस वर्ष पश्चात् (६७४ ई०) पुलकेशीके एक पुत्रने अपने पिताकी मृत्युका बदला लिया और कांचीपर अधिकार कर लिया। पल्लवों और चालुक्योंका यह द्वन्द्व युद्ध वर्षों तक चालू रहा। अन्तमें आठवीं शताब्दीके मध्यमें एक राष्ट्रकूट राजाने चालुक्योंको पराजित कर दिया, और इस तरह दक्षिणका साम्राज्य चालुक्योंके अधिकारमें लगभग दो शताब्दी तक रहनेके पश्चात् राष्ट्रकूटोंके अधिकारमें चला गया और लगभग सवा दो शताब्दी तक उनके अधिकारमें रहा। अन्तिम राष्ट्रकूट राजाको पराजित करके ९७३ ई० में तैलप द्वितीयने दूसरे चालुक्य राजवंशकी स्थापना की और कल्याणीको अपनी राजधानी बनाया।

चालुक्योंके राज्यमें जैन धर्मकी प्रगति विशेष रूपसे उल्लेखनीय है क्योंकि चालुक्यवंश आमतौरसे हिन्दू राजवंशके रूपमें प्रसिद्ध है। किन्तु अन्य हिन्दू राजाओंकी तरह चालुक्य राजा भी अन्य धर्मोंके प्रति उदार थे, केवल दक्षिणमें उनके अधिकारमें, किन्तु उनके अन्तिम दिनोंमें हुए कुछ राजा इसके अपवाद हैं।

डा० अल्तेकरने लिखा है कि बादामीके चालुक्योंके शासनमें जैन धर्मको

प्रमुखता मिली क्योंकि किसी भी चालुक्य लेखमें बौद्ध धर्मको संरक्षण देनेका एक भी उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत जैन धर्मके ऐसे अनेक उल्लेख पाये जाते हैं जो चालुक्योंके द्वारा जैनधर्मको दिये गये सरक्षणको प्रकट करते हैं। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

श्री एस० आर० शर्माने लिखा[1] है कि जयसिंहके पुत्र रणरग और उसके पुत्र पुलकेशी प्रथमने जैन धर्मको सरक्षण देनेकी परम्पराका पालन किया। रणरगके शासनकालमें [2]दुर्गाशक्तिने, जो एक जैन था, पुलिगेरेके शंख जिनालयको दान दिया था और पुलकेशी प्रथमने अलक्त नगरके जिनालयको दान दिया था। शिलालेखमें लिखा है कि राजा सत्याश्रयने जिनालयके योग्य भूमि तथा दान दिया। उसके उत्तराधिकारी कीर्तिवर्माने भी धारवाडके प्राचीनतम कन्नडी लेखके अनुसार जैनोको दान दिया था। लेख में लिखा[3] है—'जैनोंकी प्रार्थनापर ध्यान देकर राजा (कीर्तिवर्मा) ने जिनेन्द्रके मन्दिरमें अखण्ड तण्डुल, सुगन्ध-पुष्प आदि भेंट देनेके लिए भूमिदान दिया।' एक अन्य संस्कृत शिलालेखमे भी इसी प्रकारके एक दानका उल्लेख है।'

किन्तु चालुक्योंके सब शिलालेखोंमें पुलकेशी द्वितीयका ऐहोल[4] शिलालेख सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी रचना कालिदास और भारविकी कीर्ति पानेवाले जैन कवि रविकीर्तिने की थी। उसमें लिखा है—'जिनेन्द्रके इस पाषाण मन्दिरका निर्माण रविकीर्तिने कराया। और उसे इस कार्यमें उसी राजा सत्याश्रयका बहुत बडा साहाय्य मिला, जिसकी आज्ञा केवल तीनो समुद्रोंके द्वारा ही रोकी जा सकती है। रविकीर्तिने स्वय इस शिलालेखकी रचना की और इस मन्दिरका निर्माण कराया।' जिस मेगुटि मन्दिरसे यह शिलालेख मिला है उसके पासमें एक जैन गुफा है। श्री फ्लीटने लिखा है कि 'इस प्रदेशके अधिकाश जैन मन्दिरोंकी जो दशा हुई वही दशा इस मन्दिरकी भी हुई है। बादको इसे लिंगपूजाके लिए परिवर्तित कर लिया प्रतीत होता है।'

'हिन्दू धर्मके कट्टर पन्थियोका यह परिवर्तन कार्य तमिलकी तरह सर्वत्र फैल गया था। फिर भी चालुक्योंने बहुत काल तक जैन धर्मको सरक्षण प्रदान किया। उसीके प्रमाण स्वरूप अनेक चालुक्य राजा अपने नामके साथ 'सत्याश्रय' उपाधिको धारण करते थे और इसी नामसे प्रसिद्ध थे।

---

१ जै० कर्ना० क०, पृ० २२।

२ वही, पृ० २३। जै० शि० स०, लेख न० १०६।

३ वही, लेख न० १०७।

४ वही, लेख न० १०८।

डॉ० भण्डारकरने पुलकेशी द्वितीयका उत्तराधिकारी उसके द्वितीय पुत्र विक्रमादित्यको बतलाया है। और लिखा है कि विक्रमादित्य प्रथमके राज्यकालमें चालुक्यवंशकी एक शाखा दक्षिण गुजरातमें स्थापित हुई। उस शाखामें विक्रमादित्यने अपने छोटे भाई जयसिंहवर्माको नियुक्त किया, जो पुलकेशी द्वितीय ही का एक पुत्र था।

आगे डॉ० भण्डारकरने लिखा है कि खेडसे गुजरातके चालुक्योंका एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ था। प्रो० डोसनने उसमें तीन युवराजोंके नाम पढ़े थे—'जयसिंहराज, बुद्धवर्माराज और विजयराज। विद्वानों और पुरातत्त्वविदोंका ख्याल है कि इनमें-से प्रथम जयसिंह वही है जिसने दक्खनमें चालुक्य राजवंशकी स्थापना की थी। किन्तु मेरा (डॉ० भण्डारकरका) विचार है कि यह विक्रमादित्य प्रथमका भाई जयसिंहवर्मा होना चाहिए जिसने गुजरातमें चालुक्यवंशकी शाखा स्थापित की थी। क्योंकि उस प्रथम जयसिंहके साथ गुजरातका कोई सम्बन्ध नहीं था।'

यहाँ हमने इस बातको लिखना इसलिए आवश्यक समझा कि जयसिंह चौलुक्यको लेकर विद्वानोंमें मतभेद पाया जाता है। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

विक्रमादित्य प्रथमके पश्चात् उसका पुत्र विनयादित्य राज्यासनपर बैठा। डॉ० भण्डारकरके अनुसार इसका राज्यकाल ६८०–६९६ ई० है। विनयादित्यके पश्चात् उसका पुत्र विजयादित्य राज्यासनपर बैठा। डॉ० भण्डारकरने लिखा है कि विजयादित्यने दिगम्बर जैन मूलसंघ देवगणके उदयदेव पण्डित उपनाम निरवद्य पण्डितको जैन मन्दिरके प्रबन्धके लिए एक गाँव दानमें दिया था। शिलालेखमें निरवद्य पण्डितको विजयादित्यके पिताका धार्मिक गुरु लिखा है।'

यहाँ प्रो० भण्डारकरने विजयादित्यके पितासे विनयादित्यका ग्रहण किया है। और श्री एस० आर० शर्माने जयसिंह द्वितीयका ग्रहण किया है जब कि उन्होंने प्रमाण स्वरूप डॉ० भण्डारकरकी पुस्तक 'दी अर्ली हिस्ट्री आफ् दी दक्कन' का ही उल्लेख किया है। अस्तु,

एक शिलालेखमें लिखा है कि विक्रमादित्य द्वितीयने पुलिगेरे नगरमें धवल

जिनालयकी मरम्मत एवं सजावट करायी थी, तथा मूलसंघ देवगणके विजयदेव पण्डिताचार्यके लिए जिनपूजाके प्रबन्ध निमित्त भूमिदान दिया था।

विक्रमादित्य द्वितीयके बाद कीर्तिवर्मा द्वितीय राज्यासनपर बैठा। उसे आठवीं शताब्दीके मध्यमें राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्गने परास्त कर दिया और इस तरह प्राथमिक चालुक्यवंश समाप्त हो गया। सवा दो सौ वर्षोंके बाद अन्तिम राष्ट्रकूट राजाको परास्त करके तैलप द्वितीयने दूसरे या बादके चालुक्यवंशकी स्थापना की।

डॉ० भण्डारकरने लिखा है कि इस मध्यकालमें भी चालुक्योंकी अनेक शाखाएँ वर्तमान रही हैं। मैसूरसे विमलादित्य चालुक्यका एक ताम्रपत्र शक सं० ७३५ (ई० ८१३) का प्राप्त हुआ है। उसमें विमलादित्यके मामा चाकिराज गंगकी प्रार्थनापर राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीयके द्वारा एक जैन मन्दिरको एक ग्राम देनेका उल्लेख है। प्रसिद्ध कन्नड कवि पम्पने शक सं० ८६३(९४१ ई०) में कन्नडमें भारतकी रचना पूर्ण की थी। उसका संरक्षक अरिकेसरी भी चालुक्य-वंशकी एक शाखासे सम्बद्ध था। इस प्रकार प्राथमिक चालुक्यवंशकी समाप्ति हो जानेपर भी विभिन्न चालुक्य राजाओंने बराबर जैन धर्मको आश्रय दिया।

दसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें तैलपने परवर्ती चालुक्यवंशकी स्थापना की तथा कल्याणीको राजधानी बनाया। तैलप भी जैन धर्मके प्रति उदार था। उसने अजित पुराण (ई० ९९३)के रचयिता प्रसिद्ध कन्नड कवि रन्नको आश्रय दिया था और उसे कविचक्रवर्तीकी उपाधिसे विभूषित किया था। यह धारा नरेश मुंज और भोजका समकालीन था। तैलपके बाद[1] उसका पुत्र सत्याश्रय इरिव बेडंग राज्यासनपर बैठा और उसने ई० ९९७–१००८ तक राज्य किया। उसने एक जैनगुरुकी स्मृतिमें एक निषिधिका निर्माण कराया। उसके गुरुका नाम विमल-चन्द्र पण्डित देव था और वह द्रविडसंघ पुस्तक गच्छके त्रैकाल मुनि भट्टारकका शिष्य था। इन गुरुका स्वर्गवास ९९० ई० के लगभग हुआ और उनकी एक गृहस्थ शिष्या शान्तियव्वेने उनकी स्मृतिमें निषिधिका निर्माण कराया। सत्याश्रय-के निःसन्तान मरनेके पश्चात् उसका भतीजा विक्रमादित्य गद्दीपर बैठा और उसके बाद उसका भाई जयसिंह या जगदेकमल्ल गद्दीपर बैठा। उसने १०४० ई० तक राज्य किया। इस जयसिंहको कोई प्रथम लिखते हैं तो कोई तृतीय। यदि प्राथमिक चालुक्योंसे गणना की जाये तो इसकी संख्या तीसरी होती है। और बादके चालुक्योंमें इनका नम्बर प्रथम आता है क्योंकि इस नामके यह पहले ही

---

१ मिडि० जै०, पृ० ४३।

चालुक्य नरेश थे। किन्तु श्री रमेशचन्द्र[1] मजूमदारने इसे जयसिंह द्वितीय लिखा है। उसकी ज्ञात तिथियां १०१५–१०४३ ई० के बीच लिखी हैं।

तैलप द्वितीयके पौत्र तथा सत्याश्रयके भतीजे इस जयसिंहके सम्बन्धमें किन्हीं[2] मत तो यह है कि इसने अपनी पत्नीके प्रभावमें धर्म परिवर्तन करके वीरशैवमत अपना लिया था और वसव पुराणके अनुसार उसकी पत्नीने जैन श्रावकोंको क्षति पहुँचायी थी। किन्तु कुछ इतिहासज्ञोंका[3] मत है कि यह नरेश अनेक जैन विद्वानोंका आश्रयदाता था। इसके समयके प्रमुख जैन विद्वान् थे वादिराज, दयापाल और पुष्पषेण सिद्धान्त देव। वादिराज[4]की उपाधि षट्तर्क-षण्मुख और जगदेकमल्लवादी थी। श्रवणबेलगोलासे प्राप्त एक शिलालेख (नं० ५४)में वादिराजकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। उससे ज्ञात होता है कि चालुक्य चक्रवर्तीके जयकटकमें वादिराजने जयलाभ की थी। 'जगदेकमल्ल' उपाधि भी जयसिंहने ही इन्हें प्रदान की थी। मल्लिषेण प्रशस्तिके अनुसार ये जयसिंहके द्वारा पूजित थे। वादिराजने अपना पार्श्वनाथ चरित सिंहचक्रेश्वर या चौलुक्य चक्रवर्ती जयसिंह देवकी राजधानीमें निवास करते हुए शक सं० ९४७ में पूर्ण किया था। यथा – 'सिंहे पाति जयादिके वसुमती।' वादिराजने अपने यशोधर चरितके तीसरे सर्गके ८५ वें पद्यमें और चतुर्थ सर्गके उपान्त्य पद्यमें चतुराईसे जयसिंहका उल्लेख किया है। यथा –

'व्यातन्वञ्जयसिंहता रणमुखे' 'रणमुखजयसिंहो'।

इससे प्रकट होता है कि यशोधर चरितकी रचना भी जयसिंहके ही राज्यमें हुई थी।

जयसिंहका उत्तराधिकारी उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम हुआ। उसकी उपाधियाँ आहवमल्ल तथा त्रैलोक्यमल्ल थीं। श्रवणबेलगोलाके एक शिलालेखमें (नं० ५४) एक जैनाचार्यको आहवमल्लके द्वारा शब्दचतुर्मुखकी उपाधि देनेका उल्लेख है। यह आहवमल्ल चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम है। उसकी ज्ञाततिथि १०४३-१०६८ ई० लगभग है। श्री[5] सालेतोरने लिखा है कि बेल्लरी जिलेके कोगली नामक स्थानसे, जो किसी समय जैन धर्मका प्रमुख केन्द्र था, दो शिलालेख मिले हैं। उनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सोमेश्वर प्रथम स्याद्वाद सिद्धान्तका अनु-

---

१ प्राचीन भारत, पृ० ३४[illegible]।

२ ज० ए० सो०, पृ० २४।

३ मि० जै०, पृ० ४३।

४ जै० शि० सं०, भाग १, लेख नं० [illegible]।

५ [illegible], पृ० ४३।

यायी था। उनमें-से बिना तिथिका एक लेख कोगलिकी चेन्न पार्श्वनाथ वसदिसे मिला है, उसमें राजा त्रैलोक्य मल्लके द्वारा उस मन्दिरको दान देनेका उल्लेख है। यह त्रैलोक्य मल्ल सोमेश्वर प्रथम ही है। वहींसे प्राप्त एक दूसरे लेखमें, जो शक स० ९७७ (१०५५ ई०) का है, उसी राजाके द्वारा गुरु इन्द्रकीर्तिको भेंट करनेका उल्लेख है। एक[1] लेख (नं० १८६) से ज्ञात होता है कि उसकी रानी केतल देवीके अधीन कर्मचारी चाकिराजने त्रिभुवन तिलक जिनालयमें तीन वेदियाँ बनवायी और उक्त राजा तथा रानीकी आज्ञासे अनेक दान दिये। लेख[2] न० २०४ सोमेश्वर प्रथमके राज्यके अन्तिम वर्षका है। उसमें उनके प्रभावका वर्णन करते हुए लिखा है कि शक स० ९९० में उन्होंने प्रधान योगका उत्सव किया और तुगभद्रामें जलसमाधि ले ली। इसी लेखमें उनके ज्येष्ठ पुत्र सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्लका उल्लेख है, उसका राज्य उसी वर्षसे प्रारम्भ होता है।

सोमेश्वर[3] प्रथमके बाद १०६८ ई० में उसका बडा लडका सोमेश्वर द्वितीय गद्दीपर बैठा। वह भी अपने पिताकी तरह भव्य था। बन्दनीके वसदिके शिलालेखके[4] अनुसार, जो १०७५ ई० का है, राजा सोमेश्वर द्वितीयने मूल सघ काणूरगणके परमानन्द सिद्धान्तके शिष्य कुल चन्द्रदेवको शान्तिनाथ जिनालयके लिए नागरखण्डका अमुक प्रदेश दिया था। शिलालेखमें परमानन्दको दोनो सिद्धान्तरूपी समुद्रोका पारगामी लिखा है। एक शिलालेख[5] में भुवनैकमल्ल शान्तिनाथ मन्दिरका उल्लेख है। यह मन्दिर भुवनैकमल्ल विरुदके धारी पश्चिमी चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वितीयने या तो बनवाया था या उसमे शान्तिनाथकी प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी।

सोमेश्वर द्वितीयके बाद उसके भाई विक्रमादित्य षष्ठने सन् १०७६ से ११२६ तक राज्य किया। यह एक बडा प्रतापी राजा था। इसके चरित्रको लेकर प्रसिद्ध कवि विल्हणने विक्रमाक देवचरित लिखा है। लेख[6] न० २१७ से ज्ञात होता है कि इस राजाने अपने शासनके दूसरे वर्षमें धारानाथ, सौराष्ट्र, अग, कलिंग, मगध, आन्ध्र, अवन्ति एव पाचालको वशमें किया था। उसकी एक उपाधि गगपेर्मानडि थी, क्योंकि उसकी माँ गगवशकी राजकुमारी थी। उसने चालुक्य गंगपेर्मानडि चैत्यालय बनवाया था और अपने दण्डनाथके अनुरोध-

---

१ जै० शि० स०, भाग २।
२ वही।
३ मि० जै०, पृ० ५५।
४. जै० शि० स०, भाग २, लेख न० २०७।
५. वही, लेख न० २१०।
६. जै० शि० स० भाग २।

पर इस मन्दिरके प्रबन्ध आदिके लिए एक गाँव, मूलसंघ, सेनगण और पोगरि गच्छके महासेन व्रतीके शिष्य नागसेन मुनिको दानमें दिया था। इस राजाने वेन्गोल प्रदेशमें कई जिनालय बनवाये थे, जिन्हें राजाधिराज चोलने जला दिया था। श्रवणबेलगोलाकी कत्तल बसदिसे प्राप्त एक [1]लेखसे ज्ञात होता है कि इस राजाने जैन मुनि वासव चन्द्रको बाल सरस्वतीको उपाधि दी थी।

वेंगीके चालुक्य

चालुक्य वंशकी एक और शाखा पूर्वीय या वेंगीके चालुक्य नामसे प्रसिद्ध थी। इस शाखाकी परम्परा पुलकेशी द्वितीयके भाई कुब्ज विष्णुवर्धनसे चलती है। इसने सन् ६१५ से ६२३ ई० तक राज्य किया था। मदनूर (जिला नेल्लोर) से प्राप्त एक [2]शिलालेखमें कुब्ज विष्णुवर्धनसे लेकर उस वंशके २३वें राजा अम्म द्वितीय (विजयादित्य षष्ठ) तककी वंशावली दी गयी है। इस वंशके कुछ राजाओंने जैन धर्मका संरक्षण अच्छी तरह किया था। प्रस्तुत लेखमें लिखा है कि कटकाभरण जिनालयकी पूजादिके हेतु अम्मराज विजयादित्यने यापनीय संघ नन्दिगच्छके श्री मन्दिर देवमुनिको मलियपुण्डि नामक ग्राम दानमें दिया। इस जिनालयकी स्थापना कटकराज दुर्गराजने की थी। उन्हींके उपनामसे यह कटकाभरण जिनालय कहलाया। कल चुम्बरु (जिला अत्तोली) से प्राप्त एक दूसरे शिलालेखमें लिखा है कि अम्मराजने सर्वलोकाश्रय जिन भवनकी मरम्मत आदिके लिए वलहारिगण, अड्डकलिगच्छके अर्हनन्दि मुनिको कलचुम्बरू नामक ग्राम दानमें दिया। यह दान पट्टवर्धिक कुलकी तिलकभूता गणिका जनमें प्रमुख चामेकाम्बा नामकी श्राविकाकी प्रेरणासे दिया गया था। गुडगेरीसे प्राप्त एक शिलालेखमें चालुक्य चक्रवर्ती विजयादित्य वल्लभ और उसकी बहन कुङ्कुम देवीका उल्लेख है। उसमें लिखा है कि पुरिगेरीमें कुङ्कुम देवीने एक जैन मन्दिर बनवाया था।

इस तरह हम देखते हैं कि एक-दो अपवादोंको छोड़कर चालुक्य वंशकी प्रत्येक शाखाके राजागण जैन धर्मके बराबर संरक्षक रहे।

होयसल वंश

१२वीं शताब्दीके अन्तमें चालुक्योंके पतनके बाद दक्षिण भारतमें दो नयी शक्तियोंका उत्थान हुआ। उनमें-से एक तो होयसल थे, जो कर्नाटक देशके द्वा

वासी थे और दूसरे यादव थे। दोनोने पश्चिमीय चालुक्योंके प्रदेशपर कब्जा करके चालुक्य राजवंशको नष्ट कर दिया। होयसलोने दक्षिण भागपर अधिकार कर लिया और यादवोंने उत्तरीय भागपर। यादवो और होयसलोकी परस्परमे टक्करें भी हुईं किन्तु होयसलोने अपने शत्रु यादवोंके पक्षमे कभी भी कर्नाटकके ऊपरसे अपने प्रभुत्वका परित्याग नही किया। यहाँ हमारा विशेष प्रयोजन होयसलोसे ही है, यादवोसे नही।

होयसल राजवंश जैन प्रतिभाकी दूसरी महान् रचना है। इससे पहले हम देख चुके हैं कि गंगवंशकी स्थापना भी एक जैनाचार्यके सहयोगसे ही हुई थी। इस तरह जैन धर्म कर्नाटकमे दो बार राजनैतिक पुनर्जन्मका कारण हुआ—एक बार ईसवीं सन्‌की प्रथम या दूसरी शताब्दीमें और दूसरी बार ग्यारहवी शताब्दीमें।

होयसलोका[1] जन्म स्थान सोसेवुर (सं० शशकपुर) था, जिसे राईसने मैसूर प्रदेशके कडूर जिलेके मुडगेरे तालुकामें स्थित वर्तमान अंगडि माना है। यह विश्वास करनेके अनेक कारण हैं कि दसवीं शताब्दीके मध्यमें जब कर्नाटकमें होयसल वंशका प्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति प्रकाशमें आया, अंगडि जैन धर्मका एक प्रधान केन्द्र था। इसके समर्थनमें दो बातोको उपस्थित किया जा सकता है – प्रथम, दसवी शताब्दीमें अंगडिमे एक जैन गुरुका स्वर्गवास होना। दूसरे, होयसलो-की गृहदेवी वासन्तिकाके मन्दिरके समयसे भी पूर्वकालीन एक जैन वसदिका वहाँ पाया जाना। अंगडिसे प्राप्त एक शिलालेखमें लिखा है कि द्रविडसंघ, कुन्दकुन्दा-न्वय पुस्तकगच्छके मुनि भट्टारकके शिष्य विमलचन्द्र पण्डित देवने समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर स्वर्ग प्राप्त किया। उनके समाधि स्थानपर एक स्मारक बनवाया गया। यह विमलचन्द्र श्रीमान् इरिवबेडेंगके गुरु थे। श्रीराईसने इस शिलालेखको ९९८ ई० के लगभगका ठहराया है, क्योंकि शिलालेखमें निर्दिष्ट इरिवबेडेंग नाम पश्चिमीय चालुक्य नरेश सत्याश्रय (९९७-१००९ ई०) का था।

इस अंगडिमें एक ऐसी घटना घटी जो कर्नाटकके इतिहासमें प्रसिद्ध हो गयी। यह घटना दसवी शताब्दीके उत्तरार्ध तथा ग्यारहवी शताब्दीके प्रारम्भमें एक होयसल राजा और एक जैनगुरुके बीचमें घटी। संक्षेपमें उसकी कथा इस प्रकार है -

अंगडिमें सुदत्त नामके जैनगुरु रहते थे। एक बार एक होयसल राजा सोसेवुरमें अपने कुलदेवता वासन्तिका देवीके मन्दिरमें पूजाके लिए गया और

---

१. मिडि० जै०, पृ० ६०-६१।

वहाँ जैनगुरुका उपदेश सुनने लगा। इसी समय जंगलमें निकलकर एक क्रुद्ध सिंह उनकी ओर झपटा। जैनगुरुने तत्काल एक दण्ड उठाकर राजाके हाथमें दिया और उसकी भाषामें कहा—'पोयसल'—मारसल। सलने तुरन्त उससे सिंहको मार भगाया। उसने गुरुके वचनके आधारपर 'पोयसल' नाम अंगीकार किया जो बादको होयसल हो गया। श्रवणबेलगोलामें प्राप्त शिलालेख नं० [1]५६ में उक्त कथा दी हुई है।

श्री डॉ० [2]सालेतोरने प्राप्त शिलालेखोंके आधारपर विस्तारसे इन प्रश्नोंपर विचार किया है कि वह जैन साधु कौन थे, सल कौन था, किस हथियारका प्रयोग सलने सिंहको मार भगानेमें किया, तथा जिस पशुको मार भगाया वह पशु किस जातिका था। यहाँ इनमें-से प्रारम्भके केवल दो प्रश्नोंपर प्रकाश डाला जाता है।

११वीं शताब्दीके एक लेखके सिवाय ११वीं और १२वीं शताब्दीके अन्य शिलालेखोंमें उन मुनिका नाम नहीं दिया है, जिन्होंने सलकी सहायता की थी। सोरब तालुकेमें दण्डावती नदीके किनारेसे पाये गये एक शिलालेखमें उसका नाम सुदत्त मुनिप दिया है। राईसने उस लेखका समय १२०८ ई० निर्धारित किया है। नागमंगल, बेल्लूरग्राम, चन्द्रमासे प्राप्त दो शिलालेखोंमें, जिनका समय १२७१ ई० और १२८८ ई० है, लिखा है कि सलने एक सिद्ध मुनीन्द्रको लाकर शशपुरके वासन्तिका गृहमें बसाया था और वहाँ मुनीन्द्र सलको शिक्षा दे रहे थे। नगर तालुके हुमचकी पद्मावती बसदिमें प्राप्त शिलालेखमें, जिसका समय राईसने १५३० ई० निर्धारित किया है, मुनिका नाम वर्धमान योगीन्द्र लिखा है और उन्हें कुन्दकुन्दान्वय नन्दि संघका बतलाया है।

मैसूर—हुबली रेलवेके सागरकट्टे रेलवे स्टेशनके निकटमें पाये जानेवाले एक शिलालेखमें लिखा है कि वादिराजदेवके शिष्य वर्धमानदेवने जो द्रविड संघ, अरुंगलान्वय और नन्दिगणके थे तथा जिन्होंने होयसल शासनमें प्रमुख भाग लिया था, समाधिपूर्वक शरीर त्यागा और उनके सहयोगी कमठदेवने उनकी स्मृतिमें निषिधिका निर्माण किया।

डा० रावने मैसूरकी आर्कोलॉजिकल सर्वे १९३२ की वार्षिक रिपोर्टमें इस शिलालेखको दिया था और उसे ११वीं शताब्दीके अन्तिम चरणका बतलाया था। और लिखा था कि यह लेख होयसल नरेश विनयादित्य या विष्णु-

१. [illegible], भाग १।
२. [illegible], ९० [illegible]।

वर्धनके राज्यकालका हो सकता है। तथा वादिराजको उन्होंने प्रसिद्ध वादिराज बतलाया था। किन्तु डॉ० कृष्णका यह अनुमान कि वर्धमानदेव ११वी शताब्दी-के मध्यमें राजा विनयादित्यके राज्यमें वर्तमान था और उसने उसके राज्य प्रबन्ध-में मदद दी थी, उस राजाके पाये जानेवाले अनेक शिलालेखोसे प्रमाणित नही होता।

इसमें सन्देह नही कि वर्धमान देव वादिराजके शिष्य थे। क्योकि हम जानते है कि वादिराज ११ वीं शताब्दीके प्रथम चरणमें वर्तमान थे। अतः उनके शिष्य भी उसी समयके लगभग होने चाहिए। यह समय होयसल राजवशके सस्थापक पोयसल तथा उनके गुरु सुदत्त (वर्धमान) के दिये गये समय—दसवी शताब्दी-का उत्तरार्ध और ११ वी का प्रारम्भ—से भी मेल खाता है। अत होयसल राजवशकी स्थापनामें सहायक वर्धमान देव हो सकते हैं। अब हम राजाकी ओर आते हैं

जिस समय पोयसल सुदत्त वर्धमानके पास सहायताके लिए गया वह समय कर्नाटकके दुर्भाग्यका काल था। चोलोने गगवाडीपर अधिकार कर लिया था और गगराज वशका अन्तिम अवशेष भी लुप्तप्राय था। गगराजवश एक जैन-गुरुकी प्रतिभाकी उपज था। अत दसवीं शताब्दीके उत्तरार्ध और ११ वीं के प्रारम्भमें उसके विनष्ट होनेपर जैनगुरुओको अवश्य ही कर्नाटककी राजनैतिक चेतनाको पुनरुज्जीवित करनेके उपायोपर एक बार पुन विचार करना पडा होगा, क्योकि उसके बिना जैनधर्मका उद्धार भी सम्भव नही था।

जैसे सिंहनन्दि आचार्यने इस बातकी परीक्षा की कि कोगुणि वर्मामें एक राज्यका निर्माण करनेकी शक्ति है उसी प्रकार सुदत्त वर्धमानने भी अपने शिष्य सलकी परीक्षाका एक उपाय खोज निकाला। दोनो ही घटनाओमें दोनो ही शिष्योको अपने गुरुओका समर्थन प्राप्त करनेके लिए अपनी असाधारण शारीरिक शक्ति और योग्यताका प्रदर्शन करना पडा। पोयसलने एक सिंहको मार भगाया और कोगुणि वर्माने एक ही प्रहारसे एक बडे पाषाण स्तम्भको काट डाला।

फलत सलने अपने पुराने नामको बदलकर 'पोयसल' (मारसल) नामको धारण किया और उसके उत्तराधिकारियोने भी वश नामके रूपमें अपनाया। उसका पूर्व नाम क्या था, यह आज तक भी अज्ञात है।

हसन तालुकाके होन्नावर स्थानमें केशव मन्दिरसे प्राप्त ११२३ ई० के एक शिलालेखमें उक्त विवरण दिया हुआ है। दण्डावती नदीके शिलालेखमें भी

१ मि० जै०, पृ० ७०-७१।

स्वीकार किया है कि सुदत्त मलको विश्वमें एक प्रमुख स्थान देना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने पद्मावतीको सिंहके रूपमें प्रकट किया और सळने उसे मार भगाकर अपनी शक्तिका प्रदर्शन किया।

उक्त घटनाकी सत्यतामें कोई भले ही सन्देह करे किन्तु इस तथ्यमें कोई सन्देह नहीं कर सकता कि सळके उत्तराधिकारियों, खास करके विनयादित्य प्रथम तथा उसके वंशजोंने जैन धर्मको महान् संरक्षण दिया। यहाँ तक कि जब उनमें-से एक राजाने वैष्णव धर्मको अंगीकार कर लिया और उसके फलस्वरूप कर्नाटकमें राज्यधर्मके रूपमें जैनधर्मका प्रभाव नष्ट हो गया, तब भी वह संरक्षण जारी रहा।

मागरहट्टेसे प्राप्त शिलालेखमें लिखा है कि होयसलोंके शासन प्रबन्धमें जैनगुरुने प्रमुख भाग लिया। इसपरसे डॉ० सालेतोरका[1] मत है कि सुदत्त वर्द्धमानका संरक्षण सळ, और सळके उत्तराधिकारी विनयादित्य प्रथम तथा उसके उत्तराधिकारी नृपकामको प्राप्त रहा। चूँकि इन तीनोंका राज्य-काल स्वल्प था और सुदत्त वर्द्धमानकी अवस्था लम्बी थी अतः ऐसा सम्भव हुआ।

विनयादित्य द्वितीयके गुरुका नाम शान्तिदेव था। यह बात दो शिला-लेखोंसे प्रमाणित है। उनमें से एक शिलालेख श्रवणबेलगोलाकी पार्श्वनाथ बसदिसे प्राप्त हुआ है, उसका समय ११२९ ई० है। उसमें लिखा[2] है कि – जिसके पवित्र चरण कमलोंकी उपासनासे पोयसळ विनयादित्य अपने राज्यमें लक्ष्मीको लानेमें समर्थ हुआ, उस शान्तिदेवकी महिमाको कौन कह सकता है?

अंगडिसे प्राप्त शिलालेख[3] (१०६२ ई०) में लिखा है कि – विनयादित्य पोयसळके गुरु शान्तिदेवने समाधिपूर्वक शरीर त्यागा। और उनके गुरु तथा नागरिकोंने उनके समाधिस्थानपर स्मारकका निर्माण कराया।

अपने गुरुके उपदेशसे विनयादित्यने एक जैनके रूपमें क्या किया, इसका विवरण श्रवणबेलगोलाकी गन्धवारण बसदिसे प्राप्त ११३१ ई० के शिला-लेख में दिया है। उसमें लिखा है कि विनयादित्यने अनेक सरोवरों, मन्दिरों-का निर्माण कराया। हसन जिलेके बेलूर तालुकेके अन्तर्गत तोट्टुमे प्राप्त १०६२ ई० के एक खुदित शिलालेखमें लिखा है कि उत्तरायण संक्रमणके पवित्र अव-

सरपर राजा विनयादित्यने मूलसघके जैनगुरु अभयचन्द्रको भूमिदान किया। चिक्क मगलूर तालुकाके मत्तावरमे स्थित पार्श्वनाथ[1] बसदिसे प्राप्त १०६९ ई० के शिलालेखमें लिखा है कि 'राजा विनयादित्य मत्तावर आये और पहाडपर स्थित बसदिके दर्शनार्थ गये। उन्होने लोगोसे पूछा कि आपने गाँवमें मन्दिर न बनवाकर इस पहाडीपर क्यो बनाया ? माणिक सेट्टीने उत्तर दिया – हम लोग गरीब है। हम आपसे गाँवमें मन्दिर बनवानेकी प्रार्थना करते हैं क्योंकि आपकी लक्ष्मीका पारावार नही है।' माणिक सेट्टीके उत्तरसे राजा प्रसन्न हुआ, उसने माणिक सेट्टी तथा अन्य लोगोसे मन्दिरके लिए जमीन ली और मन्दिरका निर्माण कराकर उसके लिए नाडली ग्रामकी आय प्रदान की। उसने बसदिके पासमे कुछ मकान बनानेकी भी आज्ञा दी। गाँवका नाम ऋषिहल्ली रखा और बहुत से टैक्स माफ कर दिये।

विनयादित्य चालुक्य वशके विक्रमादित्य षष्ठका सामन्त था। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी एरेयगको 'चालुक्योका[2] दाहिना हाथ', 'यमका अवतार', 'मालव राजकी धारानगरीका विध्वसक' आदि कहा है। एक[3] शिलालेखमें कई पद्योके द्वारा उसकी सामरिक शक्तिकी बडी प्रशसा की गयी है, और अनेकों उपाधियाँ दी गयी हैं। होयसल वशमें एरेयग प्रथम व्यक्ति था, जिसने वीरगगकी उपाधि धारण की। पीछे उसके उत्तराधिकारियोमें वह उपाधि बहुत प्रिय हुई। उस समयके शिलालेखोसे होयसलोकी शक्तिमत्ता प्रकट होती है और उनकी शक्ति जैन धर्मकी शक्ति थी क्योकि वे उसके सरक्षक थे।

हले बेलगोलसे[4] प्राप्त एक शिलालेखमे होयसल नरेश विनयादित्य और उनके पुत्र एरेयगकी कीर्तिके वर्णनके पश्चात् कहा गया है कि त्रिभुवनमल्ल एरेयगने अमुक तिथिको बल्वप्पु पर्वतकी बस्तियोके जीर्णोद्धार तथा आहारदान आदिके लिए अपने गुरु मूलसघ देशीगण कुन्दकुन्दान्वयके देवेन्द्र सैद्धान्तिक व चतुर्मुख देवके शिष्य गोपनन्दि पण्डित देवको राचन हल्ल व बेलगोल १२ का दान दिया। लेखमें गोपनन्दि आचार्यकी कीर्तिका विस्तारसे वर्णन है। लिखा है कि उनने स्थगित हुए जैन धर्मकी विभूतिको गगनृप (एरेयग) की सहायतासे बढाया। उस समय यद्यपि गगशासन लुप्त हो चुका था किन्तु गगराजाओंके

१ मि० जै०, पृ० ७५।
२ जै० शिलालेख स०, भाग १ लेख न० १२४।
३ वही, लेख न० १३८।
४ वही, लेख न० ४९२।

द्वारा स्थापित उदार न्यायकी छापको न तो जैनोंके और न कर्नाटक राजाओंके मस्तिष्कसे मिटाया जा सका था।

एरेयंगके पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र बल्लाल प्रथम गद्दीपर बैठा। उसने ११०० ई० से ११०६ ई० तक राज्य किया। उसके गुरु चारुकीर्ति मुनि थे। ई० १३९८ तथा १४३२ ई० के दो शिलालेखोंसे इसका समर्थन होता है। ये दोनों शिलालेख श्रवणबेलगोलाको सिद्धेश्वर बसदिमें एक स्तम्भपर उत्कीर्ण हैं। ई० १३९८ के शिलालेखमें लिखा है कि चारुकीर्ति पण्डितदेव श्रुतकीर्तिदेवके शिष्य थे और वादो तथा चिकित्सा शास्त्रमें निपुण थे। एक बार राजा बल्लाल युद्ध क्षेत्रमें समीप मरणासन्न हो गये। चारुकीर्ति मुनिने उन्हें तत्काल नीरोग कर दिया। दूसरे शिलालेखमें लिखा है कि चारुकीर्ति मुनिके शरीरको छूकर बहनेवाली वायु भी रोगको शान्त कर देती थी। क्या बल्लालराजके रोगकी शान्ति उसस नहीं हुई?

राजा बल्लालके अल्पकालीन शासनके पश्चात् विष्णुवर्धन बिट्टिगदेव ई० ११०९ के लगभग गद्दीपर बैठा। श्रवणबेलगोलाके अनेक शिलालेखोंमें उसके प्रताप और शक्तिका वर्णन मिलता है। उसने कर्नाटकको चोल शासनसे मुक्त किया था। उसकी अनेक उल्लेखनीय विजय उसके जैन सेनापतियोंके द्वारा की गयी थीं। उसका शासन एक ऐसी घटनाके कारण भी बहुत प्रसिद्ध है जिसने कर्नाटक तथा दक्षिण भारतमें जैन धर्मके समस्त इतिहासको प्रभावित किया। वह घटना है आचार्य रामानुजके प्रभावसे उसका जैन धर्मको छोड़कर वैष्णव धर्मको अंगीकार करना। चोल नरेशके द्वारा सताये जानेसे [illegible] रामानुजने होयसल राजाके राज्यमें शरण ली थी। [illegible] अनुसार धर्म परिवर्तनकी यह घटना १११६ ई० से पूर्व घटी थी। कहा जाता है कि बिट्टिगदेवकी कन्या [illegible] ग्रस्त थी। उसके जैन आचार्य और पण्डित उस [illegible] नहीं कर सके। रामानुजने उसे स्वस्थ कर दिया। फलतः बिट्टिगदेवने धर्म परिवर्तन कर लिया और उसका [illegible] जैनोंसे होयसलमें [illegible] दिया गया।

[illegible] तथा [illegible] इस [illegible] इस बातके [illegible] दिये हैं। श्री [illegible] लिखा है कि [illegible] [illegible]

मिलता है कि विष्णुवर्धनने अपने अबतकके साधर्मी बन्धुओंको नहीं सताया। इसके पक्षमें कुछ तथ्योंको उपस्थित किया जाता है

प्रथम, बिट्टिगदेवके धर्म परिवर्तन कर लेनेपर भी उनकी रानी शान्तल देवीने अपना धर्म परिवर्तन नहीं किया था। उक्त घटनाके पश्चात् भी राजकीय आज्ञासे वह जैनोंको दान देती रही। दूसरे, उसका मन्त्री और सेनापति गगराज, जो दक्षिणमें जैन धर्मके तीन उन्नायकोंमें गिना जाता है, विष्णुवर्धनका बराबर प्रेमभाजन बना रहा। उसने जैन मन्दिरोंका निर्माण और जीर्णोद्धार कराया और गुरुओं तथा मूर्तियोंकी सुरक्षा की। इस कारण[1] गगवाडि ९६००० कोयणके समान चमकती थी।

श्री सालेतोरने लिखा है कि होयसल नरेशोंके मनमें जैनोंके प्रति रुझान तथा जैनगुरुओंके प्रति कृतज्ञताका भाव इतना अधिक था कि ई० ११२५में अर्थात् रामानुजके मैसूरको छोडकर चले जानेके सात वर्ष बाद भी राजा विष्णुवर्धनने जैनगुरु श्रीपाल त्रैविद्यदेवका सम्मान किया, तथा जैन मन्दिरोंके जीर्णोद्धारके लिए ग्रामदान दिया। बेलूरके एक शिलालेखमें मल्लि जिनालयको भी दान देनेका उल्लेख है। इससे इस बातकी पुष्टि होती है कि ११२९ ई० में भी राजा विष्णुवर्धन जैन धर्मका अनुयायी था। एक अन्य शिलालेखसे भी यह प्रमाणित होता है कि विष्णुवर्धन अपने राज्यकालके अन्ततक जैन धर्मका भक्त बना रहा। यह शिलालेख हलेबीडके निकट बस्तिहल्लीके पार्श्वनाथ जिनालयसे प्राप्त हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि गगराजके मर जानेपर उसके पुत्रने अपने पिताकी स्मृतिमें हलेबीडमें एक जिनालयका निर्माण कराया। विष्णुवर्धनने हर्ष प्रकट करते हुए कहा कि इस देव (पार्श्वनाथ)की स्थापनासे मैंने विजय तथा पुत्र प्राप्त किया। अतः उसने देवको विजय पार्श्वदेव नाम प्रदान किया और अपने पुत्रका नाम विजय नरसिंह देव रखा। इसमें-से विजय शब्द जैन धर्मके प्रति आदर व्यक्त करता है और 'नरसिंह' शब्द वैष्णव धर्मके प्रति श्रद्धा व्यक्त करता है।

विष्णुवर्धनके पश्चात् ११४१ ई० में उसका पुत्र नरसिंह प्रथम गद्दीपर बैठा। उसके समयमें होयसल साम्राज्यकी महत्ता किसी सैनिक पराक्रम या राजनैतिक चातुर्यकी अपेक्षा विष्णुवर्धनकी सुकीर्ति तथा उसके सेनापतियोंकी प्रभु भक्तिपर विशेष अवलम्बित थी। उसका एक सेनापति हुल्ल जैन धर्मका अनन्य भक्त था। राजा नरसिंहदेवने जैन धर्मके प्रति जो उदारता बरती, उसमें हुल्लका विशेष हाथ

---

१ जै० शि० स०, भाग ३ लेख न० ४११।

था। श्रवणबेल्गोलाकी भण्डार बस्तीके एक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि दिग्विजय यात्रा करते समय नरसिंहदेव विन्ध्यगिरि पर्वतपर गया और वहाँ उसने गोम्मटेश्वरकी वन्दना करते हुए अपने सेनापति हुल्लके द्वारा निर्मापित चतुर्विंशति बस्तीको देखा। और हुल्लकी सम्यक्त्व चूडामणि उपाधिके आधारपर इस जिनालयको भव्य चूडामणि नाम दिया तथा उसके प्रबन्धके लिए 'सवनेरु' नामका गाँव दानमें दिया।

नरसिंहदेवके पुत्रका नाम बल्लाल द्वितीय या वीर बल्लाल प्रथम था। उसने ११७३ ई० से १२२० ई० तक राज्य किया। उसके राज्यकालमें विष्णुवर्धनके राज्यकालकी तरह एक बार पुनः होयसल तलवारें चमकीं और होयसल नरेशने स्याद्वादसिद्धान्तके प्रति अपना पक्षपात व्यक्त किया। बल्लाल द्वितीयके धर्मगुरु नन्दिसंघ बलात्कारगणके श्रीपालदेवके शिष्य वासुपूज्य व्रती थे। ११७४ और ११७५ ई० के दो शिलालेखोंमें लिखा है कि 'हुल्लकी प्रेरणासे बल्लाल द्वितीयने बेक्क और कग्गेरे नामके गाँव जिनालयको प्रदान किये।'

जब जैन धर्मका प्रश्न आता था तो वीर बल्लाल अपने सेनापतियोंकी तरह नागरिकोंकी भावनाका आदर करनेसे भी विरत नहीं होता था। कडूर जिलेके पदनापुरके आजनेय जिनालयके एक शिलालेखमें लिखा है कि 'मूलसंघ देशीगण-के बालचन्द्र मुनिकी प्रेरणासे दविसेट्टि नामक व्यापारीने वीर बल्लालके नामपर एक जिनालय बनवाया था। राजाने उसकी प्रार्थनापर जिनालयकी मरम्मत, तथा पूजा आदिके व्ययके लिए कुछ गाँव प्रदान किये थे।

१२०५ ई० में बल्लाल द्वितीयके मंत्री और पट्टन स्वामी नागदेवने नागर जिनालयका निर्माण कराया। राजाने जैन साधुओंके आहारकी व्यवस्थाके लिए तथा मंदिरमें अष्टप्रकारी पूजाके लिए दान दिया। शिलालेखमें लिखा है कि राजाका पुत्र नरसिंह तृतीय अष्टप्रकारी पूजाको देखकर बहुत प्रसन्न हुआ।

नरसिंह द्वितीयके पुत्र सोमेश्वरके मरनेपर १२८५ ई० में होयसल राज्य दो हिस्सोंमें बँट गया और सोमेश्वरके दो पुत्र नरसिंह तृतीय और रामनाथ उसके उत्तराधिकारी हुए, दोनों ही जैनधर्मके भक्त थे।

[illegible] हुई इसकी [illegible] पार्श्वनाथ बस्तिके [illegible] [illegible] [illegible] लिखा है कि रामनाथ [illegible] होयसलके

मिलता है कि विष्णुवर्धनने अपने अबतकके साधर्मी बन्धुओंको नहीं सताया। इसके पक्षमें कुछ तथ्योंको उपस्थित किया जाता है

प्रथम, बिट्टिगदेवके धर्म परिवर्तन कर लेनेपर भी उनकी रानी शान्तल देवीने अपना धर्म परिवर्तन नहीं किया था। उक्त घटनाके पश्चात् भी राजकीय आज्ञासे वह जैनोंको दान देती रही। दूसरे, उसका मन्त्री और सेनापति गगराज, जो दक्षिणमें जैन धर्मके तीन उन्नायकोंमें गिना जाता है, विष्णुवर्धनका बराबर प्रेमभाजन बना रहा। उसने जैन मन्दिरोंका निर्माण और जीर्णोद्धार कराया और गुरुओं तथा मूर्तियोंकी सुरक्षा की। इस कारण[1] गगवाडि ९६००० कोयणके समान चमकती थी।

श्री सालेतोरने लिखा है कि होयसल नरेशोंके मनमें जैनोंके प्रति रुझान तथा जैनगुरुओंके प्रति कृतज्ञताका भाव इतना अधिक था कि ई० ११२५में अर्थात् रामानुजके मैसूरको छोडकर चले जानेके सात वर्ष बाद भी राजा विष्णुवर्धनने जैनगुरु श्रीपाल त्रैविद्यदेवका सम्मान किया, तथा जैन मन्दिरोंके जीर्णोद्धारके लिए ग्रामदान दिया। बेलूरके एक शिलालेखमें मल्लि जिनालयको भी दान देनेका उल्लेख है। इससे इस बातकी पुष्टि होती है कि ११२९ ई० में भी राजा विष्णुवर्धन जैन धर्मका अनुयायी था। एक अन्य शिलालेखसे भी यह प्रमाणित होता है कि विष्णुवर्धन अपने राज्यकालके अन्ततक जैन धर्मका भक्त बना रहा। यह शिलालेख हलेवीडके निकट बस्तिहल्लीके पार्श्वनाथ जिनालयसे प्राप्त हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि गगराजके मर जानेपर उसके पुत्रने अपने पिताकी स्मृतिमें हलेवीडमें एक जिनालयका निर्माण कराया। विष्णुवर्धनने हर्ष प्रकट करते हुए कहा कि इस देव (पार्श्वनाथ)की स्थापनासे मैंने विजय तथा पुत्र प्राप्त किया। अतः उसने देवको विजय पार्श्वदेव नाम प्रदान किया और अपने पुत्रका नाम विजय नरसिंह देव रखा। इसमें-से विजय शब्द जैन धर्मके प्रति आदर व्यक्त करता है और 'नरसिंह' शब्द वैष्णव धर्मके प्रति श्रद्धा व्यक्त करता है।

विष्णुवर्धनके पश्चात् ११४१ ई० में उसका पुत्र नरसिंह प्रथम गद्दीपर बैठा। उसके समयमें होयसल साम्राज्यकी महत्ता किसी सैनिक पराक्रम या राजनैतिक चातुर्यकी अपेक्षा विष्णुवर्धनकी सुकीर्ति तथा उसके सेनापतियोंकी प्रभु भक्तिपर विशेष अवलम्बित थी। उसका एक सेनापति हुल्ल जैन धर्मका अनन्य भक्त था। राजा नरसिंहदेवने जैन धर्मके प्रति जो उदारता बरती, उसमे हुल्लका विशेष हाथ

---

१ जै० शि० स०, भाग ३ लेख न० ४११।

था। [1]श्रवणबेलगोलाकी भण्डार वस्तीके एक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि दिग्विजय यात्रा करते समय नरसिंहदेव विन्ध्यगिरि पर्वतपर गया और वहां उसने गोम्मटेश्वरकी वन्दना करते हुए अपने सेनापति हुल्लके द्वारा निर्मापित चतुर्विंशति वस्तीको देखा। और हुल्लकी सम्यक्त्व चूडामणि उपाधिके आधारपर उस जिनालयको भव्य चूडामणि नाम दिया तथा उसके प्रबन्धके लिए 'सवनेरु' नामका गांव दानमें दिया।

नरसिंहदेवके पुत्रका नाम बल्लाल द्वितीय या वीर बल्लाल प्रथम था। उसने ११७३ ई० से १२२० ई० तक राज्य किया। उसके राज्यकालमें विष्णुवर्धनके राज्यकालकी तरह एक बार पुनः होयसल तलवारें चमकीं और होयसल नरेशने स्याद्वादसिद्धान्तके प्रति अपना पक्षपात व्यक्त किया। बल्लाल द्वितीयके धर्मगुरु नन्दिसंघ अरुंगलान्वयके श्रीपालदेवके शिष्य वासुपूज्य व्रती थे। ११७४ और ११७५ ई० के दो शिलालेखोंमें लिखा है कि 'हुल्लकी प्रेरणासे बल्लाल[2] द्वितीयने वेक्के और कग्गेरे नामके गांव जिनालयको प्रदान किये।'

जब जैन धर्मका प्रश्न आता था तो वीर बल्लाल अपने सेनापतियोंकी तरह नागरिकोंकी भावनाका आदर करनेसे भी विरत नहीं होता था। बटूर जिलेके नागरिकोंकी भावनाका आदर करनेसे भी विरत नहीं होता था। कलसापुरके आजनेय जिनालयके एक शिलालेखमें लिखा है कि 'मूलसंघ देशीगण-के बालचन्द्र मुनिकी प्रेरणासे देविसेट्टि नामक व्यापारीने वीर बल्लालके नामपर एक जिनालय बनवाया था। राजाने उसकी प्रार्थनापर जिनालयकी मरम्मत, तथा पूजा आदिके व्ययके लिए कुछ गांव प्रदान किये थे।

११९५ ई० में बल्लाल द्वितीयके मंत्री और पट्टन स्वामी नागदेवने नागर जिनालयका निर्माण कराया। राजाने जैन साधुओंके आहारकी व्यवस्थाके लिए तथा मन्दिरमें अष्टप्रकारी पूजाके लिए दान दिया। शिलालेखमें लिखा है कि राजाका पुत्र नरसिंह द्वितीय अष्टप्रकारी पूजाको देखकर बहुत प्रसन्न हुआ।

नरसिंह द्वितीयके पुत्र सोमेश्वरके मरनेपर १२४५ ई० में होयसल राज्य दो हिस्सोंमें बँट गया और सोमेश्वरकी दो रानियोंके दो पुत्र नरसिंह तृतीय और रामनाथ उसके उत्तराधिकारी हुए, दोनों ही जैनधर्मके भक्त थे।

हलेबीडसे लगी हुई बस्ती हल्लीमें पार्श्वनाथ बसदिके बाहरकी दीवारके पाषाणमें उत्कीर्ण [3]शिलालेखमें लिखा है कि नरसिंहदेव दण्डनायक बोप्पदेवके

---

१ जै० शि० सं०, भाग १, लेख नं० १३८।
२ वही, लेख नं० ४६०।
३ जै० शि० सं०, भाग ३, लेख नं० ६६६।

द्वारा निर्मापित विजय पार्श्वदेव जिनालयके दर्शनार्थ गया। उसने बस्तीका पूर्व शासन देखा और अपनी वंशावली पढ़ी। उसने अपने जीजा द्वारा बनवायी गयी चहारदीवारी एवं मकानकी मरम्मत कराकर विजय पार्श्वदेवकी सेवामें अर्पण कर दिया। यह विजय पार्श्वदेव जिनालय वही था, जिसका नामकरण विष्णु-वर्धनके किया था। एक वर्षके पश्चात् १२५५ ई० में जब १५ वर्षकी अवस्थामें नरसिंहदेवका उपनयन संस्कार हुआ तो उसने विजय पार्श्वदेवकी पूजाके लिए दान दिया।

नरसिंह देवके धर्मगुरु बलात्कार गणके [1]माघनन्दि सिद्धान्तदेव थे। वह कुमुदेन्दु योगीके शिष्य थे और अभिनव सारचतुष्टयके सिद्धान्तसार, श्रावका-चारसार, पदार्थसार और शास्त्रसार समुच्चयके रचियता थे। माघनन्दिके शिष्यका नाम कुमुदचन्द्र पण्डित था। नरसिंह देवने त्रिकूट रत्नत्रय शान्ति-नाथ जिनालयके निमित्तसे माघनन्दिको एक ग्राम दानमें दिया था। इसीसे इस जिनालयको त्रिकूट रत्नत्रय नरसिंह जिनालय भी कहते थे। डोरसमुद्रके जैन नागरिकोंने भी शान्तिनाथकी भेंटके लिए भूमि और द्रव्य प्रदान किया था।

राजा नरसिंहदेवका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी उसीका भाई रामनाथ था। जैन-केन्द्र कोगलीसे उसके दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि वह एक सच्चा जैन था। प्रताप चक्रवर्ती वीर मन्मथदेव (१२५७–७१) के द्वारा बेल्लरी जिलेके कोगली ग्राममें स्थित चन्न पार्श्व बस्तीको दिया गया दान होयसलों-द्वारा जैन धर्मको दिया गया अन्तिम दान है। इस तरह होयसल नरेशोंने अपने शासनकालके अन्त तक जैन धर्मको संरक्षण दिया।

सामन्तों-द्वारा संरक्षण

राजाओंकी ही तरह उनके सामन्तोंने भी अपने-अपने प्रदेशोंमें जैन धर्मको संरक्षण दिया। आठवीं शताब्दीसे लेकर तेरहवीं शताब्दी तक कर्नाटक राजवंशोंके सामन्तोंने जैन धर्मकी शक्तिको बढ़ानेमें बराबर योगदान किया। और इसका साधारण जनतापर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। इसीसे जैन धर्मको सब ओरसे समर्थन प्राप्त हो सका।

यहाँ कुछ उल्लेखनीय सामन्तोंके कार्योंका परिचय दिया जाता है।

राष्ट्रकूट सामन्त चाकिराज जैनगुरु अरकीर्तिका शिष्य था। अरकीर्तिके गुरु विजयकीर्ति यापनीय नन्दिसंघ और पुन्नाग वृक्षमूलगणके थे। ई० ८१२ के

---

१ वही, भाग १, लेख नं० १२९। मि०, जै०, पृ० ८४।

कदम्ब ताम्रपत्रमें चाकिराजको अशेष गगनमण्डलका अधिराज लिखा है। वह गोविन्द तृतीय प्रभूतवर्षका सामन्त था। उसने राष्ट्रकूट राजधानी मान्यपुरसे पश्चिममें स्थित शिलाग्रामके जिनेन्द्र मन्दिरके निमित्तसे जालमगल नामका गाँव अपने गुरुको दिया था।

दूसरा उल्लेखनीय राष्ट्रकूट सामन्त लोकादित्य था। वह बंकेयरसका पुत्र था और राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय अकालवर्षके शासनके अन्तर्गत वनवास देशके वंकापुरका शासक था। वह स्वयं जैन था। उसीके संरक्षणमें लोकसेनने गुणभद्रकृत उत्तरपुराणके अन्तमें प्रशस्ति लिखी।[1] प्रशस्तिके ३२ से ३६ तकके पद्योंमें कहा है कि 'जब अकालवर्षके सामन्त लोकादित्य बंकापुर राजधानीसे सारे वनवास देशका शासन करते थे, तब शक संवत् ८२० में इस पुराणकी पूजा की गयी। उसीसे यह भी ज्ञात होता है कि लोकसेन गुणभद्रका प्रमुख शिष्य था तथा लोकादित्यने जैन धर्मकी वृद्धिमें योगदान किया था।

दक्षिण भारतमें जैन धर्मकी स्थितिको दो शताब्दियोंसे अधिक काल तक सुदृढ बनाये रखनेमें शान्तर[2] राजकुमारोंका नाम उल्लेखनीय है। वे उग्रवंशी थे। और सातवीं शताब्दीमें पश्चिमीय चालुक्य नरेश विनयादित्यके राज्यकालमें सर्वप्रथम उनका नाम सुननेमें आता है। दक्षिणमें इस वंशका संस्थापक जिनदत्तराय था। मोटे तौरपर आधुनिक तीर्थहल्लि ताल्लुके और उसके आसपासके प्रदेशपर शान्तरोंका शासन था। शान्तर अपने राजनैतिक जीवनके प्रारम्भकालसे ही जैन थे। जिनदत्तरायने जिनदेवके अभिषेकके लिए कुम्भसिकेपुर गाँव प्रदान किया था। तोलापुरुष विक्रम शान्तरने ८९७ ई० में कुन्दकुन्दान्वयके मौनी सिद्धान्त भट्टारकके लिए वसतिका निर्माण कराया था। यह वही विक्रमादित्य-शान्तर है जिसने हुमचमें गुड्डद बस्तीका निर्माण कराया था और उसे बाहुबलि की भेंट कर दिया था। भुजबल शान्तरने अपनी राजधानी पोम्बुच्चमें भुजबल शान्तर जिनालयका निर्माण कराया था। और अपने गुरु कनकनन्दिदेवको हरवरि गाँव प्रदान किया था। उसका भाई नन्नि शान्तर भी जिनचरणोंका पूजक था।

वीर शान्तरके मन्त्री नगुलरसको जिनधर्मका दुर्ग लिखा है। ११०३ ई० के एक लेखमें लिखा है कि—त्रिभुवनमल्ल शान्तरने वीरब्बरसीकी स्मृतिमें वादीघरट्ट अजितसेन पण्डितदेवके नामपर एक वसदिका शिलान्यास किया था। यह नयी वसदि राजधानी पोम्बुच्चमें पंचवसदिके सामने बनवायी गयी थी। भुजबल गंग

---

१ जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ १४२।
२ मिडि० जै०, पृ० ६६ आदि।

पेरम्माडि वर्मदेव (१११५ ई०) मुनिचन्द्रका शिष्य था और उसका पुत्र नन्नियगग (११२२ ई०) प्रभाचन्द सिद्धान्तका शिष्य था। शिमोगा जिलेके कल्लूरगुड्डमें सिद्धेश्वर मन्दिरके पाससे प्राप्त एक शिलालेखमें भुजबल गग वर्मदेवके धार्मिक कृत्योका रोचक विवरण दिया है। उसने एक वसदिका नवनिर्माण कराकर उसे कुछ ग्राम प्रदान किये थे। इस वसदिके सम्बन्धमें शिलालेखमें लिखा है कि—यह वही वसदि है जिसकी स्थापना गगवशके सस्थापक दडिग और माधवने की थी तथा जिसे गग राजाओने बराबर भेंटें प्रदान की थी। भुजबल गंगके समयमें यह वसदि सब वसदियोमें प्रधान मानी जाती थी। ११२२ ई० में उसके पुत्र नन्नियगगने उसे पाषाणसे निर्मित कराया और भूमि प्रदान की। नन्नियगगने जैन धर्मकी अभ्युन्नतिके लिए पच्चीस चैत्यालयोका निर्माण कराया था। उसके लगभग पचास वर्ष पश्चात् ११७३ ई० में हुए वीर शान्तरको जिनदेवके चरणकमलोका मधुकर कहा है। किन्तु बादको शान्तरोने जैन धर्मको त्याग कर वीरशैव धर्म स्वीकार कर लिया। इससे जैन धर्मको जो क्षति पहुँची उसका वर्णन आगे किया जायेगा।

अब[1] हम दो ऐसे प्रभावशाली वशोंकी ओर आते हैं जिन्होने दक्षिणमें जैन धर्मके प्रचारमें पूरा योगदान किया था। वे हैं कोगालव और चगालव, इनमें-से पहला बहुत प्रभावशाली था। कोगालवोका शासन कोगलनाड ८००० प्रान्तपर था। कोगलनाड राजनैतिक शक्तिके रूपमें ग्यारहवीं शताब्दीके प्रथम चरणमें आगे आया यद्यपि इसका प्रारम्भिक इतिहास ८८० ई० के लगभग खोजा जा सकता है।

लगभग एक शताब्दी तक कोगालवों और उनके अधिकारियोने जैन धर्मकी सुरक्षा की। कोगालव स्वय जैन थे इसमें जरा भी सन्देह नही है। १०५८ ई० में राजेन्द्र कोगालवने अपने पिताके द्वारा निर्मापित बस्तीको भूमि प्रदान की। इस अवसरपर उसकी माताने भी अपनी भक्ति प्रकट की, जिसका वर्णन आगे स्त्रियोके प्रकरणमें किया जायेगा। उसकी माता पोचब्बरसीका गुरु गणेश पण्डित था, वह नन्दिसंघ अरुगलान्वयके पुष्पसेनका शिष्य था। वह महान् वैयाकरण था। १०६४ ई० में उसकी मृत्यु हुई। राजेन्द्र कोगालवका गुरु मूलसघ काणूरगण और तगरिगल (?) गच्छका गण्डविमुक्त सिद्धान्तदेव था। उसके लिए राजेन्द्रने एक चैत्यालयका निर्माण कराया था और उसे भूमि प्रदान की थी। उसके एक अन्य गुरुका नाम प्रभाचन्द्र सिद्धान्त था।

---

१. मिडि० जै०, पृष्ठ ९५।

उसे उभयसिद्धान्तरत्नाकर लिखा है। ११०० ई० में कोंगालवराजने दुद्-म्मल्लरस वसदिके निर्माण तथा जीर्णोद्धारके लिए प्रभाचन्द्र देवको एक गाँव प्रदान किया था। वीर कोंगालव देवको देशियगण पुस्तकगच्छके मेघचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेवका शिष्य बतलाया है। कोंगालवराजने सत्यवाक्य जिनालयका निर्माण कराया था और उसके लिए प्रभाचन्द्र सिद्धान्त-को गाँव प्रदान किया था। कोंगालवोंकी तरह चगालवोंने भी जैन धर्मको साहाय्य प्रदान किया। पहले ये गगनाडके स्वामी थे, बादको मैसूरके पश्चिमी भाग तथा कुर्गके कुछ भागके स्वामी हो गये। वे शैव थे, किन्तु कुछ प्रमाण बतलाते हैं कि ११वीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें और बारहवींके प्रथम चरण-में चगालवोंने जैन धर्मको भौतिक सहायता प्रदान की।

करहाड[1]के शिलाहार भी जैन धर्मके संरक्षक थे। उनके शासनके अन्त र्गत अनेक जैन केन्द्रोंमें-से एक एक्कसम्बुज था जो वर्तमानमें बेलगाँव जिलेके चिक्कोडी तालुकामें एकसम्बी नामक स्थानके रूपमें वर्तमान है। वहाँ नेमी-श्वर बस्ती थी उसमें ११६५ ई० के दो शिलालेख हैं। उनमें विजयादित्यके राज्यका और सेनापति कालनके द्वारा उसी वर्षमें उस वसदिको बनवानेका उल्लेख है। तथा यापनीय संघके पुन्नागवृक्षमूल गणका और जैन धर्मके संरक्षक रट्टराज कार्तवीर्यका भी उसमें उल्लेख है। शिलालेखमें बस्तीके निर्माण करानेका कारण भी लिखा है, कालन अपने स्त्री-पुत्रादिके साथ आनन्दका जीवन बिताता था। एक दिन उसे लगा कि धर्म ही इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी है और उसने नेमीश्वर बस्तीका निर्माण कराकर उसके निमित्तसे अपने गुरु कुमारकीर्ति त्रैविद्यके शिष्य, पुन्नागवृक्षमूलगणके महामण्डलाचार्य विजयकीर्तिको भूमि प्रदान की। उसकी आयसे साधुओं और धार्मिकोंको भोजन तथा आवास दिया जाता था। उसकी कीर्तिको सुनकर रट्टवंशका राजा कार्तवीर्य उसे देखनेके लिए आया, और उसने मन्दिरके जीर्णोद्धार आदिके लिए भूमि प्रदान की।

कर्नाटकमें जैन धर्मको उन्नत करनेमें नागर खण्डके सामन्तोंका भी हाथ रहा है। लोक गावुण्डने ११७१ ई० में एक जैन मन्दिरका निर्माण कराया था। और उसकी अष्टप्रकारी पूजाके लिए मूलसंघ, काणूरगण, तिन्त्रीणी गच्छके मुनिचन्द्र देवके शिष्य भानुकीर्ति सिद्धान्त देवको भूमि प्रदान की थी।

तेरहवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें (१२७१ ई०) कुची राजका नाम

---

१ मि० जै०, पृ० ६८।

भी उल्लेखनीय है वह पद्मसेन भट्टारकका शिष्य था। उसने अपने गुरुके उपदेश-से जिनालयका निर्माण कराया और उसे भूमि, दूकान तथा उद्यान प्रदान किये। यह मन्दिर मूलसङ्घ सेनगणके पोगलगच्छसे सम्बद्ध था।

जैनधर्मके संरक्षक कुछ विशिष्ट पुरुष

धार्मिक सिद्धान्तोके पीछे यदि राजनैतिक शक्ति न हो तो उनका समाजपर स्थायी प्रभाव नही होता। सम्भवतया इसीसे जैनाचार्योंने केवल मोक्षाभिलाषी भव्यजीवोका ही निर्माण नही किया, किन्तु ऐसे सेनापतियोका भी निर्माण किया जो यथार्थ जैन होते हुए शत्रुओसे भी अपने देशको मुक्त करनेकी क्षमता रखते हो। ऐसे सेनापतियोमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय[1] चामुण्डराय है। चामुण्ड-रायके जैसा बहादुर और भक्त जैन कर्नाटकमें दूसरा नहीं हुआ। उसके समयके शिलालेखोसे तथा उसके द्वारा कन्नड भाषामें रचित चामुण्डराय पुराणसे उसके सम्बन्धमें कुछ जानकारी प्राप्त होती है। चामुण्डराय पुराण (९७८ ई०) में अपना परिचय देते हुए लिखा है कि ब्रह्मक्षत्र जातिमें उनका जन्म हुआ था। उसके सरक्षक थे जगदेकवीर धर्मावतार राचमल्ल (चतुर्थ)। किन्तु चामुण्डरायने गगनरेश मारसिहकी अधीनतामें भी सेवाकार्य किया था।

मारसिह और उनके उत्तराधिकारी पुत्र राचमल्लका समय गगवशके लिए भयावह था। पश्चिमीय चालुक्य नोलम्ब तथा पल्लव आदि गगवशके शत्रु थे। पश्चिमीय चालुक्योके खतरेको नष्ट करनेका श्रेय चामुण्डरायको है। पश्चिमीय चालुक्य नरेश राजादित्यने उच्चंगीके किलेमें स्वयको बन्द कर लिया। श्रवणबेलगोलाके कुगे ब्रह्मदेव स्तम्भपर उत्कीर्ण लेखमें (९७४ ई०) में लिखा है कि इस प्रसिद्ध दुर्गपर हुए आक्रमणने विश्वको आश्चर्यमें डाल दिया। चामुण्डरायने अपने पुराणमें स्वय इस बातको स्वीकार किया है कि इस विजयके उपलक्ष्यमें उसे रणरंगसिगकी उपाधि प्राप्त हुई। नोलम्बोको जीतनेके उपलक्ष्यमें राजा मारसिहने स्वय नोलम्बकुलान्तक उपाधि धारण की और चामुण्डरायको 'वीरमार्तण्ड'की उपाधिसे भूषित किया। नोलम्बराजको जीतनेके उपलक्ष्यमें मारसिहने चामुण्डरायकी कितनी प्रशसा की यह त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ (श्रवण-बेलगोला) के लेखमें उत्कीर्ण है। इसी तरहके वीरतापूर्ण कार्योंके लिए उसे राचमल्ल चतुर्थकी ओरसे समरधुरन्धर, वैरिकुलकालदण्ड, भुजविक्रम आदि उपाधियाँ प्राप्त हुई थीं।

---

१ मि० जै०, पृ० १०१ आदि।

दूसरी ओर इस वीर शिरोमणिकी सत्यनिष्ठा, धर्मप्रेम आदिके कारण उसे सत्य युधिष्ठिर, गुणवंकाव, सम्यक्त्व रत्नाकर, शौचाभरण, गुणरत्नभूषण, कवि-जनशेखर जैसी उपाधियाँ प्राप्त हुई थी।

चामुण्डरायके गुरुका नाम अजितसेन था और वह नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्तीका भी स्नेह भाजन था। नेमिचन्द्रने अपने गोम्मटसारकी[1] रचना चामुण्डरायके उद्देश्यसे ही की थी। चामुण्डराय बडा उदार दानी था। उसने जैन धर्मके लिए जो कुछ किया उसने उसे भारतके इतिहासमें अमर बना दिया। श्रवणबेलगोलामें गोम्मटेश्वरकी प्रसिद्ध मूर्तिकी स्थापना उसीने की थी। यह मूर्ति ५७ फीट ऊँची है। इसकी स्थापनाकी कथा श्रवणबेलगोलाके शिला-लेखोमें तथा कन्नड भाषाके अनेक ग्रन्थोमें वर्णित है।

श्रवणबेलगोलाकी छोटी पहाडीपर भी चामुण्डरायने एक बसदि बनवायी थी। उसके पुत्र जिनदेवण्णने भी एक बसदिका निर्माण कराया था। प्रसिद्ध कन्नड कवि रन्नको भी चामुण्डरायने आश्रय दिया था।

[2]बारहवीं शताब्दीको अनेक जैन सेनापतियोको जन्म देनेका सौभाग्य प्राप्त है जिन्होने तत्कालीन राजनैतिक महत्ताका प्रस्थापन किया था। होयसल विष्णुवर्धन बिट्टिगदेव इस शताब्दीका सबसे प्रसिद्ध और सौभाग्यशाली राजा था। उसकी इस प्रसिद्धिका श्रेय उसके सेनापतियोको था। विष्णुवर्धनके आठ जैन सेनापति थे – गगराज, बोप्प, पुणिस, बलदेव, मरियन, भरत, ऐच और विष्णु। ये जैन धर्मके सरक्षक और कर्नाटककी सैनिक शक्तिके प्रतीक थे। इनमें-से प्रथम दोकी सैनिक विजयोने एक बार पुन कर्नाटकको दक्षिण भारतके सर्वप्रमुख शक्तिशाली राज्योकी श्रेणीमें प्रतिष्ठित कर दिया था।

इन सबमें भी गगराजका नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उसके माता-पिता जैन थे, श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोसे यह प्रमाणित है। चामुण्डराय[3] बस्तीके मण्डपमें उत्कीर्ण ११२० ई०के शिलालेखमें 'मार' और माणकब्बेके सुपुत्र एचि या एचिगाककी भार्या पोचिकब्बेकी धर्मपरायणता और अन्तमें सन्यासविधिसे स्वर्गा-रोहणका उल्लेख है। पोचिकब्बेने अनेक धार्मिक कार्य किये, बेलगोलामें अनेक मन्दिर बनवाये। शक स० १०४३में उसका स्वर्गवास हो जानेपर उसके प्रतापी पुत्र गगराजने अपनी माताकी स्मृतिमें इस निषद्याका निर्माण कराया।

---

१ 'अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारि अजियसेण गुरू। भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयतु ॥७३३॥ – गो० जीवकाण्ड।

२ मिटि० जै०, पृ० १८४।

३ जै० शि० स०, भाग १, लेख न० ४४।

उसी शिलालेखमें गगराजकी अनेक उपाधियाँ अंकित हैं – यथा – वैरि-भयदायक श्री जैनधर्मामृताम्बुधिप्रवर्धनसुधाकर, सम्यक्त्व रत्नाकर आदि। इसी शिलालेखमें गगराजको 'विष्णुवर्द्धन भूपाल होयसल महाराज-राज्याभिषेक-पूर्ण कुम्भ' अर्थात् 'होयसल महाराज विष्णुवर्धनके राज्याभिषेकके लिए पूर्णकुम्भ' कहा है। और उसी मण्डपमें अंकित दूसरे शिलालेखमें गगराजको 'विष्णुवर्धन पोयसल महाराज राज्य समुद्धरण कलिगलाभरण' अर्थात् विष्णुवर्धनके राज्यका उद्धार कर्ता कहा है। अत. राजा बल्लाल प्रथमकी मृत्युके बाद विष्णुवर्धनको राज्याभिषिक्त करानेमें गगराजका प्रधान हाथ था ऐसा प्रतीत होता है।

श्रवणबेलगोला तथा बेलूरके नरसिंह मन्दिरमें उत्कीर्ण शिलालेखोंमें गग-राजके कार्यकलापोंका वर्णन दिया है। उनसे प्रकट होता है कि होयसल शासनमें गगराजने कितना महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।[1] जब उसने सम्पूर्ण गगवाडीको अपने स्वामी विष्णुवर्धनके अधिकारमें ला दिया तो प्रसन्न होकर होयसल नरेशने गगराजसे वर मांगनेके लिए कहा। गगराजने जिनेन्द्रकी पूजाके लिए गगवाडी प्रदान करनेकी प्रार्थना की और राजाने गोम्मटदेवकी पूजाके लिए गगवाडीको सहर्ष प्रदान किया। गगराजने गगवाडीकी समस्त बस्तियोंका जीर्णोद्धार कराया। और श्रवणबेलगोलाके गोम्मटदेवके चारों ओर चहारदीवारी बनवायी।

चन्द्रगिरि पर्वतपर-के एक शिलालेखमें लिखा[2] है—'गगराज होयसल नरेश विष्णुवर्धनके महादण्ड नायक थे। इन्होंने तैलगोंको परास्त कर गगवाडि देशको बचा लिया तथा चालुक्यनरेश त्रिभुवनमल्ल पेर्माडिदेवकी सेनाको जीतकर अपने भारी पराक्रमका परिचय दिया। उनकी स्वामिभक्ति तथा विजयशीलता-से प्रसन्न होकर विष्णुवर्धन नरेशने उनसे पारितोषिक मांगनेको कहा। उन्होंने 'परम' नामका गांव मांगा और उसे अपनी माता तथा भार्याके द्वारा निर्मापित जिनमन्दिरोंके लिए अर्पण कर दिया। इस दानके अतिरिक्त उन्होंने गगवाडि परगनेके समस्त जिन मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया, गोम्मट स्वामीका परकोटा बनवाया तथा अनेक स्थलोंपर नये नये जिन मन्दिरोंका निर्माण कराया। आगे लेखमें कहा गया है कि इन कार्योंसे क्या गगराज गगराय (चामुण्डराय) की अपेक्षा सौ गुने अधिक धन्य नहीं कहे जा सकते।'

गगराजकी पत्नी तथा पुत्र भी उसीकी तरह जैन धर्मके भक्त थे। जब ११३३ ई० में गगराजका स्वर्गवास हो गया तो उसके ज्येष्ठ पुत्र बोप्पने राज-धानीके मध्यमें एक जिनालयका निर्माण कराया। उसकी प्रतिष्ठा मूलसघ

१. मि० जै०, पृ० १२७।

२ जै० शि० स०, प्रथम भाग, लेख न० ५९ तथा लेख न० ९०।

देशियगण, पुस्तकगच्छके नयकीर्ति सिद्धान्त चक्रवर्तीने करायी थी। इसी जिनालयमें स्थापित पार्श्वनाथकी मूर्तिको विष्णुवर्धनने विजय पार्श्वदेव नाम दिया था, जिसका वर्णन पहले किया गया है।

सेनापति बोप्पने भी अपने प्रसिद्ध पिताकी उदार नीतिका ही अनुसरण किया। उक्त जिनालयके अतिरिक्त उसने दो अन्य जिनालयोंका निर्माण कराया था। वह अपने पिताकी ही तरह शूरवीर और योद्धा था। उसने कोंगोंको हराया था। गंगराजका शूरवीर साथी पुणिस था। वह राजा विष्णुवर्धनका सान्धिविग्रहिक—युद्ध और सुलह मन्त्री था। गंगराजकी तरह उसका नाम यद्यपि कर्नाटकके इतिहासमें गूँजता हुआ सुनायी नहीं देता, तथापि उसकी विजययात्रा महत्त्वपूर्ण रही है। किन्तु उसका हृदय गंगराजकी ही तरह महान् था। चामराजनगरकी पार्श्वनाथ वस्तीमें उत्कीर्ण [1]शिलालेख (१११७ ई०) में उसकी विजय तथा उदारताका वर्णन मिलता है। उसमें लिखा है

पुणिसराज दण्डाधीशके देव जिन थे। गुरु अजित मुनि थे। और पोयसलराजा उनका शासक था। उन्होंने एक जिनमन्दिर बनवाया था। पुणिसम्मकी पत्नी पोचले थी। उनके पुत्र चावण, कोरय और नागदेव थे। वे रत्नत्रयके समान थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र चावण तथा उसकी पत्नियों अरसिकव्वे और चौण्डलेसे पुणिसमय्य और बिट्टिग उत्पन्न हुए। चावण और अरसिकव्वेका पुत्र पोयसल राजाका सान्धिविग्रहिक मन्त्री पुणिस था। 'पुणिस दण्डाधिपने एक बार पोयसल राजाकी आज्ञा मिलनेपर नीलाद्रिपर कब्जा कर लिया और मलेयाल लोगोंका पीछा कर उनकी सेनाको कैदी बना लिया। और इस तरह वह केरलाधिपति बन गया।.... जो व्यापारी बिगड़ गये थे, जिन किसानोंके पास बोनेके लिए बीज नहीं था, जिन हारे हुए किरात सरदारोंके पास कुछ भी नहीं रहा था और जो उसके नौकर हो गये थे, तथा सबको जिसका जो-जो नष्ट हो गया था वह सब उसने दिया और उनके पालन-पोषणमें मदद दी। उसने गंगोंकी तरह गंगवाडि ९६००० बसदियोंको सज्जित किया। अरकोट्टारमें अपने-द्वारा बनवायी हुई त्रिकूट बसदिकी बसदियोंको भूमिदान किया।

सेनापति पुणिसमय्यके गुरु कोई अजितसेन पण्डित देव थे। विष्णुवर्धनके तीसरे मन्त्री बलदेव अरसादित्य या राजा आदित्यके पुत्र थे। अरसादित्य और आचाम्बिके तीन पुत्र थे – पद्मराज, हरिदेव और मन्त्रियोंमें प्रधान बलदेव। श्रवणबेलगोलाके एक [2]शिलालेखके अनुसार ये लोक प्रसिद्ध कर्णाटक

---

१. जै० शि० स०, भाग २, लेख नं० २६४।
२. जै० शि० स० भाग १, लेख नं० ३५१।

कुलके तिलक, शत्रुओंके लिए प्रचण्ड, जिनपद भक्त और महासाहसी थे। अन्तमें लिखा है – समस्त मन्त्रियोंके नाथ, शत्रुओंको वशमें करनेवाले, परस्त्री त्यागी, सरस्वती देवीके कण्ठहार, उदारमूर्ति, जिनेन्द्र पदसेवी बलदेव जयवान् हो।

राजा विष्णुवर्धनके दो मन्त्री मरियाने दण्डनायक और भरतेश्वर दण्डनायक थे। दोनों भाई थे। गगराजके वंश तथा होयसल राजवंशके साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध था। दोनों भाइयोंने पहले विष्णुवर्धनकी अधीनतामें कार्य किया, पश्चात् उसके पुत्र नरसिंह प्रथमकी अधीनतामें कार्य किया। विष्णुवर्धनने उन्हें अपने सम्पूर्ण राज्यके महामन्त्री पदपर प्रतिष्ठित किया था। दोनों भाई स्याद्वाद रूपी लक्ष्मीके कानोंके रत्नजडित आभूषणके तुल्य थे। प्रतिदिन जिनपूजा करते थे और चारों प्रकारका दान देते थे।

दोनों भाइयोंमें से मरियानेने राजा विष्णुवर्धनके द्वारा विशेष सत्कार प्राप्त किया था। ब्रह्मेश्वर मन्दिरके [1]शिलालेखमे मरियानेको राजा विष्णुवर्धनका राजकीय हस्ती लिखा है। और अलसेन्द्र [2]शिलालेखमे लिखा है कि विष्णुवर्धनने मरियानेको अपना सेनापति नियुक्त किया था। दोनों भाई सर्वाधिकारी, माणिक भण्डारी, और प्राणाधिकारीके पदोंपर नियुक्त थे। सिन्दिगेरेके ब्रह्मेश्वर मन्दिरके शिलालेखमें भरतेश्वरकी प्रशंसामें लिखा है – 'उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति जिनमन्दिरोंके लिए, सारा स्नेह जनताके लिए, सम्पूर्ण भावना जिनपूजाके लिए, सारी उदारता सज्जनोंके लिए, और सम्पूर्ण दान मुनीन्द्रोंके लिए था। सन् ११६० के एक शिलालेखमें लिखा[3] है कि भरतने श्रवणबेलगोलामें जैन मूर्तियोंकी स्थापना की, गंगवाडीमें ८० नये मन्दिर बनवाये और २०० मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया।

भरत और मरियानेके धर्मगुरु देशियगण, पुस्तकगच्छके माघनन्दिके शिष्य गडविमुक्त व्रती थे। किन्तु भरतकी पत्नीके धर्मगुरु स्वयं माघनन्दि थे।

विष्णुवर्धनके अन्य तीन जैन सेनापति थे बोप्प, ऐच और इम्मडि विट्टिमय्य। बोप्प गगराजका ज्येष्ठ पुत्र था। उसकी पत्नी भानुकीर्ति देवकी शिष्या थी। उनका पुत्र ऐच भी दण्डाधीश था। उसने श्रवणबेलगोलामें जैन मन्दिरोंका निर्माण कराया था। अपने पिता बोप्पकी तरह एच भी एक उदार हृदय जैन था। उसने बेलगलीके मूलस्थान गगेश्वरको भूमि प्रदान की थी। ११३५ ई०में उसने सल्लेखनापूर्वक मरण किया।

---

१ जै० शि० स०, भाग ३, लेख न० ३०७।

२ वही, लेख न० ४११।

३ मि० जै०, पृ० १३६।

इम्मडि विट्टिमय्य विष्णुवर्धनका दाहिना हाथ तथा भक्तहृदय जैन था। उसने राजधानीमें एक जिनालयका निर्माण कराया था और उसका नाम विष्णुवर्धन जिनालय रखा था। विट्टिमय्यके गुरु श्रीपाल त्रैविद्य थे। उसने अपने गुरुको जिनपूजा तथा जिनालयके जीर्णोद्धार और आहार दानके लिए विष्णु-वर्धनसे पारितोषिकके रूपमें प्राप्त बीजवोलाल नामका गाँव तथा अन्य भूमि प्रदान की थी।

अब हम होयसल[1] नरेश नरसिंह प्रथमके राज्यकाल (११४१–११७३ ई०) की ओर आते हैं। अपने पिता विष्णुवर्धनकी तरह नरसिंह प्रथमका राज्यकाल भी उसके चार जैन सेनापतियों और मन्त्रियोंके कार्यकलापोंके कारण प्रसिद्ध है। देवराय, हुल्ल, शान्तियण्ण और ईश्वर ये चार उसके सेनापति थे और मन्त्री थे – शिवराज और सोमेय।

सेनापति देवराजके गुरुका नाम मुनिचन्द्र भट्टारक था। राजा नरसिंहने देवराजकी प्रतिभा तथा स्वामिभक्तिसे प्रसन्न होकर उसे सूरणहल्ली स्थान प्रदान किया था और जैन सेनापतिने उस स्थानपर एक जैन चैत्यालयका निर्माण कराया था। राजाने उस चैत्यालयके लिए धन प्रदान किया था।

हुल्ल एक आदर्श जैन और शक्तिशाली सेनापति था। एक महान् सेनापति और जैन धर्मके संरक्षकके रूपमें उसकी ख्याति थी। वह केवल एक धार्मिक पुरुष ही नहीं था, किन्तु विचक्षण राजनीतिज्ञ भी था। वह महान् मन्त्री, प्रधान कोषाध्यक्ष, सर्वाधिकारी और सेनापतिके पदोंको सुशोभित करता था। वह कार्यसाधनमें यौगन्धरायणसे और राजनीतिके ज्ञानमें बृहस्पतिसे भी दक्ष था। उसने राजा विष्णुवर्धन नरसिंह और बल्लाल प्रथमकी अधीनतामें कार्य किया था।

सेनापति हुल्लका जैन धर्मके प्रति परमोत्तम कार्य था श्रवणबेलगोलामें चतु-र्विंशति जिनालयका निर्माण कराना। इसका निर्माण सम्भवत ११५९ ई०में हुआ था। जब राजा नरसिंह द्वितीय अपनी विजययात्राके निमित्तसे उधरसे गया तो उसने बड़े आदरके साथ गोमट्टदेव और पार्श्वनाथकी मूर्तियोंके तथा इस जिनालयके दर्शन किये और जिनालयकी पूजादिके लिए सवणेरु ग्राम प्रदान किया[2]। तथा हुल्लकी सम्य-क्त्व चूडामणि उपाधिके आधारपर जिनालयको भव्य चूडामणि नाम प्रदान किया और हुल्लने महामण्डलाचार्य नयकीर्ति सिद्धान्त चक्रवर्तीको चतुर्विंशति जिनालय-

---

१ मिडि० जै०, पृ० १४०।

२ जै० शि० स०, भाग १, लेख न०, ९०। १३८।

का आचार्य बनाया जो सवणेरुकी आयका उपयोग श्रवणबेलगोला स्थानके जिनालयोकी मरम्मत तथा पूजा आदिमें करते थे। लगभग ११७५ ई० में हुल्लने राजा बल्लाल द्वितीयसे सवणेरुके साथ बेक्क और कग्गेरे नामक गांवोको प्राप्त किया तथा उन्हें उक्त जिनालय तथा गोम्मटदेव और पार्श्वनाथकी पूजाके लिए प्रदान किया।

सेनापति हुल्लने श्रवणबेलगोलाकी तरह अन्य भी प्रमुख तीन जैन केन्द्रोको अपनी उदारता और दानशीलतासे सिंचित किया। वे तीन जैन केन्द्र हैं—केल्लगेरे, बकापुर और कोप्पण। केल्लगेरे एक प्राचीन तीर्थस्थान था। इसकी स्थापना गग राजाओने की थी। किन्तु यह खण्डहर हो गया था। हुल्लने वहाँ एक सुन्दर जैन मन्दिरका निर्माण कराया। यहाँ उसने तीर्थङ्करोके पाँच कल्याणकोकी भावनासे पाँच विशाल बस्तियाँ बनवायीं। उसके गुरु देवकीर्ति देवने केल्लगेरेमें प्रतापपुर बस्ती बनवायी थी। हुल्लने उसे नवीन रूप दिया और श्रवणबेलगोलासे लगभग एक मीलपर स्थित जिननाथपुर गाँवमें एक भिक्षागृह बनवाया। बकापुरमें उसने जीर्णशीर्ण जिन मन्दिरका नवनिर्माण कराया।

जिन मन्दिरोके निर्माण, जिनदेवकी पूजा, जैन साधुओको आहारदान और जैन शास्त्रोके श्रवणमें ही हुल्लका समय व्यतीत होता था। चामुण्डराय और गंगराजके पश्चात् हुल्लका ही नाम लिया जाता है। उसे गङ्गदेशके समस्त जैन मन्दिरोको दी जानेवाली भेंट रूपी समुद्रके लिए चन्द्रमा कहा है।

राजा नरसिंहका तीसरा जैन सेनापति शान्तियण्ण था। वह वासुपूज्य सिद्धान्तदेवके शिष्य मल्लिषेण पण्डितका शिष्य था। दण्डनायकका पद तथा करिगुण्डका अधिकार पानेपर शान्तियण्णने वहाँ एक बसदिका निर्माण कराया और उसके लिए भूमि प्रदान की।

राजा नरसिंहका एक अन्य जैन सेनापति ईश्वर चमूपति था। उसने तुमकुर तालुकाके मन्दार हिलकी बसदिका जीर्णोद्धार कराया था। राजा नरसिंहके दो जैन मन्त्री शिवराज और सोमेय थे। उहोने ११६५ ई० में होयसल जिनालयको कुछ करोसे होनेवाली आय प्रदान की थी।

राजा नरसिंहके पुत्र बल्लाल द्वितीयके सेनापतियोमें एक वसुधैकबान्धव रेचिमय्य थे। बल्लालके पास आनेसे पहले वे कलचुरि नरेशोके मन्त्री थे। उन्हें कलचुरि सम्राटोसे बहुत-से देश मिले थे उनमें एक नागरखण्ड था। उसपर वह शासन करता था। शिकारपुर तालुकाके चिक्कमागडिमें बसवण्ण मन्दिरके प्रागण-

में एक स्तम्भपर उत्कीर्ण शिलालेख[1] (११८२ ई०) में राचिमय्यका वर्णन है। उसमें लिखा है कि एक बार रेचिमय्य राजा वोप्पदेव और शकर सामन्तके साथ मागडिमें जिनेश्वरकी पूजाके लिए आया। पूजन करनेके पश्चात् राचिमय्य दण्डाधीशने शकर सामन्तके द्वारा निर्मापित उस जिनमन्दिरको देखा और बहुत प्रसन्न हुआ। तथा तीन पोढ़ियोके लिए तलब ग्राम इस मन्दिरको प्रदान किया। इस दानको ग्रहण करनेवाले थे भानुकीर्ति सिद्धान्तदेव, जो कानूरगण तिंत्रिणीक गच्छके थे।

किन्तु राचिमय्यके कार्योंमें सबसे अधिक स्थायी कार्य था, राजधानी आरसियकेरेमें सहस्रकूट चैत्यालयका निर्माण। इस चैत्यालयमें उत्कीर्ण[2] शिलालेखमें लिखा है कि जब होयसल नरेश वीर बल्लालदेव राजधानी दोरसमुद्रमें रहते हुए राज्य करते थे, आरसियकेरेके निवासियोकी रत्नत्रयधर्ममें दृढता सुनकर कलचुरिकुलके सचिवोत्तम रेचरसने बल्लालदेवके चरणोमे आश्रय पाकर आरसियकेरेमें सहस्रकूट जिनालयकी स्थापना की। उन भगवान्की अष्टविध पूजन, पुजारी और सेवकोकी आजीविका तथा मन्दिरकी मरम्मतके लिए राजा बल्लालने हन्दरहालु ग्राम प्राप्त करके उसे अपने वशके गुरु मूलसघ देशियगण पुस्तकगच्छ और इगुलेश्वरबलिके माघनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य तथा शुभचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य सागरनन्दि सिद्धान्तदेवको सौप दिया।

आगे उसी शिलालेखमें लिखा है—राच-द्वारा स्थापित सहस्रकूट जिनालयके लिए जैन लोगोने एक करोड रुपया इकट्ठा कर प्रसिद्ध आरसियकेरेमें एक मन्दिर बनवाया।" इस जिनालयको समस्त ७ करोड लोगोकी सहायता होनसे इसका नाम एलकोटि जिनालय रखा गया। इसके लिए १००० कुटुम्बोसे जमीन खरीदी गयी थी। राजा बल्लालने उस जमीनका कर माफ कर दिया था।

इससे प्रतीत होता है कि आरसियकेरे जैन धर्मका प्रमुख केन्द्र था। इसी समयके लगभग १२०० ई० में एचिरस सेनापतिने श्रवणबेलगोलामे शान्तिनाथका मन्दिर बनवाया और उक्त सागरनन्दिको सौप दिया। उसमे अंकित [3]शिलालेखमें लिखा है कि सागरनन्दि मूलसघ देशियगण पुस्तकगच्छ कोण्डकुन्दान्वय कोल्लापुरकी सामन्त बसदिसे प्रतिबद्ध माघनन्दिके प्रशिष्य और शुभचन्द्रदेव त्रैविद्यके शिष्य थे।

---

१ जै० शि० स०, भाग ३, लेख न० ४००। मिडि० जै०, पृ० १४७-४८।
२ जै० शि० स०, भाग ३, लेख न० ४६५।
३ जै० शि० स०, भाग १, लेख न० ४७१।

बल्लाल द्वितीयका दूसरा प्रसिद्ध जैन मन्त्री बूचिराज था। वह कन्नड और संस्कृतका विद्वान् था तथा दोनों भाषाओंमें रचना कर सकता था। राजाके राज्याभिषेकके अवसरपर ११७३ ई० में बूचिराजने मारिकलीमें त्रिकूट जिनालयका निर्माण कराया। और उसकी पूजादिके लिए वह ग्राम प्रदान किया। उसके गुरु द्रमिलसंघ अरुंगलान्वयके श्रीपाल त्रैविद्यके शिष्य वासुपूज्य सिद्धान्तदेव थे।

राजा बल्लाल द्वितीयका एक जैन मन्त्री नागदेव था। वह राजा बल्लालका पट्टण स्वामी था और जैन मन्दिरोंका संरक्षक था। उसके गुरु नयकीर्ति सिद्धान्तदेव थे। नागदेवने श्रवणबेलगोलाके पार्श्वदेवके सामने एक रंगशाला तथा पत्थरके चबूतरेका निर्माण कराया था।

एक महामन्त्री महादेव दण्डनाथ था। उसके गुरु काणूरगण तिन्त्रिणीक गच्छके कुलभूषण त्रैविद्य विद्याधरके शिष्य सकलचन्द्र भट्टारक थे। महादेव दण्डनाथने ११९८ ई० में एक सुन्दर जिनालयका निर्माण कराया था और उसकी पूजा तथा मरम्मतके लिए उसने भूमि प्रदान की थी। पट्टण स्वामी सेट्टी तथा अन्य तेलके व्यापारियों आदिने कुछ करका भाग प्रदान किया था।

राजा बल्लाल द्वितीयके राज्यकालके अन्तमें सेनापति अमृत हुआ वह शूद्रकुलका था। वह महामन्त्री सर्वाधिकारी और 'विरुद नमोत्तदिष्टायक' था। उसके गुरु जिनचन्द्रके शिष्य नयकीर्ति पण्डितदेव थे। उसने अपने तीन भाइयोंके साथ ओक्कलुगेरेमें १२०३ ई० में एक जिनालयका निर्माण कराया था। और कुछ नायकों तथा नागरिकोंके सामने शान्तिनाथ जिनेन्द्रकी अष्टप्रकारी पूजाके लिए तथा साधुओंके आहारके लिए भूमि प्रदान की थी।

अन्तिम महान् होयसल नरेश वीर बल्लाल तृतीयके राज्यमें एक केतेय नामका दण्डनायक था। वह १३३२ ई० में होयसल नरेशका महामन्त्री और सर्वाधिकारी था। उसने एक जिनालयके लिए कोण्डतुरकी नशीली वस्तुओंका कर प्रदान किया था।

जैन धर्मकी संरक्षक महिलाएँ

मध्यकालीन कर्नाटकके इतिहासमें स्त्रियोंका स्थान महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपने समयके महत्त्वपूर्ण कार्योंमें क्रियात्मक भाग लिया है। किन्तु यहाँ उनके जैन धर्मके प्रति किये गये महान् कार्योंका ही विवरण दिया जाता है।

दसवीं शताब्दीके प्रथम चरणमें राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीयके राज्यकालमें महासामन्त कलिविट्टरस वनवास प्रदेशके अधिकारी थे। ९११ ई० में नागरखण्डके अधिकारी सत्तरस नागार्जुनका स्वर्गवास हो गया। उनके स्थानपर

उनकी पत्नी जक्कियब्बेको अधिकारी नियुक्त किया गया। जक्कियब्बे शासनमें सुदक्ष थी और जिनशासनकी भक्त थी। यद्यपि वह नारी थी। किन्तु बहादुरीमें किसीसे कम नहीं थी। उसने नागरखण्डकी सुरक्षा की। और जब इसका मरणकाल आया तो उसने बन्दनिके नामक पवित्र स्थानमें जाकर वहाँके जिनालयमें सल्लेखनापूर्वक प्राणोंका त्याग किया।

इसी दसवीं शताब्दीमें जैन इतिहासमें स्मरणीय महिला अत्तिमब्बेका जन्म हुआ। वह सेनापति मल्लपकी पुत्री थी, और नागदेवकी पत्नी थी। सेनापति मल्लप पश्चिमीय चालुक्य शासक तैलपका नायक था। अत्तिमब्बे एक आदर्श उपासिका थी। उसने पोन्नके शान्तिपुराणकी एक हजार प्रतियाँ तैयार करायी और सोने तथा जवाहरातकी १५०० मूर्तियाँ बनवायी। अत्तिमब्बे एक उदाहरणके योग्य महिला थी।

दसवीं शताब्दीमें पामब्बे नामकी महिला हुई। वह राजा भूतुगकी बड़ी बहन थी। उसने जिनदीक्षा लेकर तीस वर्ष तक तपस्या की और ९७१ ई० में उसका स्वर्गवास हुआ।

राजकीय महिलाओंने भी जैन धर्मकी सुरक्षामें क्रियात्मक भाग लिया था। पोचब्बरसी राजेन्द्र कोंगाल्वकी माता थी। उसने १०५० ई० में एक बसदिका निर्माण कराकर उसे भूमि प्रदान की थी।

कदम्बशासक कीर्तिदेवकी बड़ी रानी मालल देवीने १०७७ ई० में कुप्पटूरमें पद्मनन्दि सिद्धान्तदेवके द्वारा पार्श्वनाथ चैत्यालयका निर्माण कराया था। उसने जिनालयके लिए राजासे एक सुन्दर स्थान प्राप्त किया था।

यह हम पहले लिख आये हैं कि शान्तर भक्त जैन थे। इस राजवंशमें चट्टल देवीका नाम अति प्रसिद्ध है। वह रक्कस गंगकी पौत्री और पल्लव नरेश काडुवेट्टीकी रानी थी। उसके पुत्र और पतिकी मृत्यु होनेपर उसने अपनी छोटी बहनकी चार सन्तानोंको अपना माना और उनके साथ शान्तरोंकी राजधानी पोम्बुच्चपुरमें जिनालयोंका निर्माण कराया। उसने अनेक मन्दिर, बसदियाँ, तालाब, स्नानगृह, तथा गुफाएँ बनवायीं और आहार, औषध, शिक्षा तथा आवास दानकी व्यवस्था की। चट्टल देवीके गुरु श्री विजय भट्टारक थे। वह तियन गुडीके निदम्बर तीर्थके अरुंगलान्वय नन्दिगणके प्रमुख थे। वह रक्कस गंग और नन्नि शान्तरके भी गुरु थे।

जैन धर्मके प्रति उदार भाव रखनेमें गंग राजवंशकी महिलाओंका नाम भी उल्लेखनीय है। उदाहरणके लिए लगभग ११२ ई० में गंगवाडीके राजा भुजबल गंगकी महादेवी जैनमतकी संरक्षिका थी। लेखमें उसे जिनेन्द्रके चरणों-

की भ्रमरी कहा है। उसके पति राजा हेम्मकी दूसरी पत्नीका नाम बाचल देवी था। उसने बन्निकेरेमें एक सुन्दर जिनालयका निर्माण कराया था। इस जिनालयके लिए उसके पतिने, गंग महादेवीने तथा प्रमुख अधिकारियोंने मिलकर बुदनगेरे गाँव, कुछ अन्य भूमि तथा धन प्रदान किया था। राजा हेम्मडि स्वयं भी जैन था। उसने कुन्तलापुरमें एक जैन मन्दिर बनवाया था जो मूलसंघ, मेषपाषाण गच्छ और काणूर गणसे सम्बद्ध था। उसके गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव थे। उसके एक पुत्र सत्य गंगने १११२ ई० में कुरुडी तीर्थमें गंग जिनालयका निर्माण कराया था। ऐसे जैन धर्मके प्रेमी सम्बन्धी जनोंके कारण चट्टल देवीके प्रिय कार्य सफलताके साथ सम्पन्न हुए तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

एक शान्तर राजकुमारी पम्पादेवी थी। वह राजा तैलकी पुत्री तथा विक्रमादित्य शान्तरकी बड़ी बहन थी। शिलालेखमें उसकी बड़ी प्रशंसा की गयी है—अष्टप्रकारी पूजा, जिनाभिषेक और चतुर्विध भक्तिमें उसकी अत्यन्त आस्था थी। उसकी पुत्री बाचलदेवी दूसरी अत्तिमब्बे थी। वह प्रतिदिन सूर्य निकलते ही जिनभगवान्की पूजा किया करती थी। दोनों माँ-बेटी वादीभसिंह अजितसेन पण्डित देवकी शिष्याएँ थी ऐसा ११४७ ई० के एक शिलालेखमें लिखा[1] है।

जैन सेनापतियोंकी पत्नियोंने भी जैन धर्मकी सुरक्षामें भाग लिया था। उन सबमें गंगराजकी पत्नी लक्ष्मीमती अग्रणी थी। वह शुभचन्द्रकी शिष्या थी। उसने श्रवणबेलगोलामें एक जिनालयका निर्माण कराया था और उसके पतिने उसे दान दिया था। अपने पतिकी तरह लक्ष्मीमती भी चारों प्रकारका दान देती रहती थी। ११२१ ई० के शिलालेखमें लिखा है—क्या अन्य स्त्रियाँ चातुर्य, सौन्दर्य और जिनभक्तिमें गंगराजकी पत्नी लक्ष्मीयाम्बिकेकी समानता कर सकती हैं? लक्ष्मीमतीने समाधिपूर्वक प्राणोंका त्याग किया और उसके पतिने श्रवणबेलगोलामे उसका स्मारक बनवाया।

गंगराजके बड़े भाईकी पत्नीका नाम जक्कणब्बे था। वह सेनापति बोप्पकी माता थी। श्रवणबेलगोलाके शिलालेख (नं० ४३) में जक्कणब्बेकी जैन धर्ममें भारी श्रद्धाका उल्लेख है। उसने वहाँ जिनमूर्तिका तथा एक तालावका निर्माण कराया था।

जैन सेनापति पुणिसमय्यकी पत्नीका नाम भी जक्कियब्बे था। उसने

---

१ मि० जै०, पृ० १६२।

कृष्णराजपेठ तालुकाके बस्ती होसकोटेमें एक बसदि बनवायी थी। उसके उत्तर-में उसके पतिने मूलस्थान बसदि बनवायी थी, जो विष्णुवर्धन पोयसल जिना-लयसे सम्बद्ध थी तथा उसने उसके लिए भूमिदान भी दिया था।

पश्चिमीय चालुक्य नरेश त्रिभुवनमल्ल पेरम्मडिदेवके राज्यमें पाण्ड्य मन्त्री और सेनापति सूर्य दण्डनायककी पत्नीने भी दावणगेरे तालुकाके बेम्बूर नामक स्थानमें एक जिनालयका निर्माण कराया था और उसके लिए भूमि दान की थी।

गंगवंशके राजा मारसिंहकी छोटी बहनके गुरु माघनन्दि थे। इस महिलाने जहाँ जैन मन्दिर नहीं था वहाँ जैन मन्दिरका निर्माण कराया और जहाँ जैन मुनियोंके निवासका प्रबन्ध नहीं था, वहाँ निवासस्थान बनवाये। मारसिंह-का पुत्र राजा गुवकल्ल [illegible], तिंत्रिणीक गच्छके भानुकीर्ति सिद्धान्त-देवका शिष्य था। उसने उदरेमें कनक जिनालयका निर्माण कराया था।

होयसल नरेश विष्णुवर्धनकी रानी शान्तल देवीके पिता कट्टर शैव थे और माता जैन धर्मकी भक्त थी। शान्तल देवी अपनी सुन्दरता और गायन तथा नृत्यकलामें विख्यात थी। उसके गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव थे। शान्तल देवीने जैन धर्मके लिए जो कुछ कार्य किये वे सब चिरस्थायी थे। उसने श्रवणबेलगोलामें ११२३ ई० में शान्ति जिनेन्द्रकी मूर्तिकी स्थापना की और सवतिगन्धवारण बसदिका निर्माण कराया। तथा राजा विष्णुवर्धनकी आज्ञासे प्रबन्धादिके लिए मोट्टेनविले गाँव प्रदान किया। श्रवणबेलगोलाके एक शिलालेखमें जो शान्तल देवीके दानका स्मारक है, लिखा है—'विष्णुवर्धनकी पटरानी शान्तल देवीने, जो पातिव्रत, धर्मपरायणता और भक्तिमें रुक्मिणी, सत्यभामा और सीताके समान थी; सवतिगन्धवारण बसदि निर्माण करा-कर अभिषेकके लिए एक तालाब बनवाया और इसके साथ एक ग्रामदान दिया। ११३१ ई० में उसने शिवगंग स्थानमें, जो बेंगलोरसे पश्चिममें तीस मील है, सल्लेखनापूर्वक मरण किया। शान्तल देवीकी मृत्युके पश्चात् उसकी माता माचिकब्बेने भी बेलगोलामें जाकर एक मासके अनशनके पश्चात् समाधिविधिसे देह त्याग किया। इन घटनाओंसे प्रकट होता है कि उस समयके महिला वर्गपर धर्मका प्रभाव था।

राजा विष्णुवर्धनकी पुत्री हरियब्बरसि जैन धर्मकी भक्त थी। ११६३ ई०

१ जै० शि० सं०, भाग १, लेख सं० ५३ [illegible] लेख सं० ५३, [illegible] पृ० १०२–१०६।

में हन्नियूरमें उसने एक उत्तुंग जिनालयका निर्माण कराया और उसकी मरम्मत आदिके लिए भूमि प्रदान की।

चन्द्रमौलि[1] मन्त्रीकी पत्नी आचलदेवीने बेलगोलामें एक जिनमन्दिरका निर्माण कराया था, उसे चन्द्रमौलिकी प्रार्थनासे होयसल नरेश वीरबल्लालने बम्मेयन हल्लि नामक गांव प्रदान किया था। चन्द्रमौलि वीरबल्लालके मन्त्री थे और शैव धर्मको मानते थे।

राजघराने, सामन्तों और सेनापतियोंकी पत्नियोंकी तरह नागरिक महिलाओंमें भी जैन धर्मके प्रति गाढ़ अनुराग था। एक लेखमें[2] जैन धर्मपर दृढ़ श्रद्धा रखनेवाली हर्यले महासतीका उल्लेख है। उसने मृत्युके समय अपने पुत्र भूवयनायकको बुलाकर कहा कि स्वप्नमें भी मेरा खयाल न करना, केवल धर्मका विचार करना। यदि पुण्योपार्जन करना है तो जिनमन्दिर बनवाओ। इसके बाद पंच नमस्कार मन्त्रका स्मरण करते हुए उसने जिनेन्द्रके चरणोंमें समाधिपूर्वक शरीर त्यागा।

शिलालेख संग्रहमें ऐसी अनेकों महिलाओंका उल्लेख है जिन्होंने समाधिपूर्वक शरीर त्यागा।

सार्वजनिक संरक्षण

जैनाचार्योंने अपनी उदारता, बुद्धिमत्ता, तपस्या और त्यागसे केवल राजाओं, सामन्तों और उनके सेनापति-मन्त्रियोंको ही प्रभावित नहीं किया, किन्तु जनसाधारणमें जो प्रभावशाली और सम्पन्न वर्ग थे, उन्हें भी आकृष्ट किया। राजवंशोंकी स्थापनामें भाग लेकर उन्होंने राजवंशोंका सहयोग प्राप्त किया। सामन्तों, और सेनापति मन्त्रियोंको योग्य सम्मति देकर उन्हें अपना अनुयायी बनाया और धर्मोपदेश आदिके द्वारा प्रमुख मध्यमवर्गकी भक्ति अर्जित की। वीर बणजिग (वीर वणिग्जन) तथा अन्य व्यापारी वर्गकी आर्थिक सहायतासे अनेक जिनालयों तथा जैन धर्मके प्रमुख केन्द्रोंका निर्माण हुआ। इस तरह इन शानदार स्मारकोंके साथ राजाओं, सामन्तों और मन्त्री सेनापतियोंका जो क्रियात्मक समर्थन जैन धर्मको प्राप्त हुआ, उससे दक्षिण भारतमें जैन धर्मके प्रचार और शक्तिको पूर्ण बल मिला।

तथा साधारण जनताके लिए प्राणोंकी साधारण आवश्यकता भोजन,

---

१ जै० शि० स०, भाग १, लेख नं० १२४।

२ जै० शि० स० भाग ३, लेख नं० ३८३।

औषधि, शिक्षा और आवासके चतुर्विध दानकी व्यवस्था करके उन्होंने साधारण जनताका स्नेह और आदर प्राप्त किया। इससे दक्षिणमें नौवींसे चौदहवीं शताब्दी तक जैन धर्मका अच्छा प्रचार रहा। यद्यपि ईसवी सन्‌की प्रारम्भिक शताब्दियोंमें महान् जैनाचार्योंने जैन धर्मकी शक्तिको निश्चय ही पल्लवित और पुष्पित किया, किन्तु नौवीं शताब्दीमें जैन धर्मका जितना विस्तार देखनेमें आता है उतना प्राथमिक शताब्दियोंमें नहीं देखा जाता। इसका स्पष्टीकरण जैन धर्मके प्रमुख केन्द्रोंके परिचयसे होता है जो हम आगे देंगे। इससे पूर्व हम कुछ ऐसे धनिक व्यापारियोंका परिचय देते हैं जिनके औदार्यसे जैन धर्मको अभ्युन्नतिमें साहाय्य मिला।

सन् १०६२में राजा[1] वीर शान्तर देवका एक शक्तिशाली अधिकारी पट्टण स्वामी नोक्कय्य सेट्टी था। उसने हुम्मचमें पट्टण स्वामी जिनालयका निर्माण कराया और उसकी पूजा आदिके व्ययके लिए एक गाँव प्रदान किया। 'सम्यक्त्व वाराशि' उसकी उपाधि थी। उसके पास चाँदी-सोने और जवाहरातकी जिनमूर्तियाँ थीं। उसने अनेक तालाबोंका निर्माण जनताके लिए कराया था। इससे प्रसन्न होकर राजाने उसे स्वर्ण पट्ट प्रदान किया था। हुम्मचमें ही उसने दूसरा मन्दिर बनवाया। और उसे शान्तर राजा तैलपने एक ग्राम प्रदान किया। नोकय्यके गुरु दिवाकर सेट्टी थे और उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रपर कनडीमें एक टीका रची थी।

व्यापारी वर्गका पहलेसे ही जैन धर्ममें महत्त्व चला आता है। अनेक जिनमन्दिरोंकी व्यवस्थाका उत्तरदायित्व उनको सौंप दिया गया था। श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें इसका उल्लेख मिलता है। व्यापारी वर्गकी तरह कृषकवर्ग भी जैन धर्मका अनुयायी था। जब[2] ११५४ ई० में पारीश्वरसेन भट्टारकने होल्ललकेरेमें शान्तिनाथकी जीर्ण बस्तीका उद्धार किया और जब बोड्डुम गौड तथा दूसरोंके द्वारा दिये गये दानमें विघ्न डाला गया तो उस गौडके पुत्रोंने तथा दूसरे लोगोंने १०० गद्याण देकर सरकारी अधिकारी प्रतापनायकसे हिरियकेरे तालाबके पीछेकी भूमि प्रदान करनेकी तथा शान्तिनाथ बसदिकी पूजा आदिके लिए नागरिकोंके घरोंसे कर आदि देनेकी प्रार्थना की थी।

किन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि क्रियात्मक दृष्टिकोणसे जैन धर्मके लिए वीर वणजिगोंकी उदारता गौडोंसे विशेष महत्त्वपूर्ण थी। बारहवीं शताब्दीके उत्तरार्धके कुछ शिलालेखोंकी जाँच करनेसे यह स्पष्ट हो जायेगा। उनमें सबसे

१ मिडि० जै०, पृ० ८७४ आदि।
२ मि० जै०, पृ० १८०।

प्राचीन शिलालेख ११६५ ई० का है उसमें शिलाहार सेनापति कालनके द्वारा एक जिनालयके निर्माणका उल्लेख है। रट्ट नरेश कार्तवीर्य तथा दूसरोके द्वारा दिये गये सार्वजनिक दानके सरक्षक दक्षिणके अनेक वर्गोंके प्रमुख थे। उन सबने एकमतसे वसदिकी पूजा आदिके लिए अमुक द्रव्य देना स्वीकार किया। शकर सामन्तने १२८२ ई० के लगभग मागुडीमें एक सुन्दर जिनालय बनवाया था। उसकी पूजादिके लिए विभिन्न देशोके व्यापारियोके द्वारा लाये गये द्रव्यसे चार स्थानोके बणजिगोने तथा मुम्मुरि दण्डने अमुक भूमि प्रदान की थी।

भूमि खरीदकर और उसे सब तरहके करोसे मुक्त करके किसी जैन मन्दिरको प्रदान करना उस समयकी एक प्रचलित परम्परा थी। सोम गौड चिक्क मुगुलिके मसण गौडका बडा पुत्र था। जब वह १२८० ई० मे समाधिपूर्वक मरा तो उसके पुत्रने केवल उसका स्मारक पत्थर ही नही लगवाया किन्तु स्थानीय वसदिकी पूजाके लिए भूमि भी प्रदान की।

बल्लाल तृतीयके राज्यमें बाहुबलि सेट्टी और पारिसेट्टीने एक्कोटि जिनालयका निर्माण कराया। जिनालयके लिए एक तालाब और कुछ भूमिकी आवश्यकता थी। अरेय मरेय नायकने तालाब बनवा दिया तथा कुछ अन्य नायकोंने भूमि प्रदान कर दी। इस प्रकार उस समयके जनसाधारणमें भी जैन धर्मके प्रति विशेष अभिरुचि पायी जाती थी। उसीके फलस्वरूप कर्नाटकमें जगह-जगह जैन धर्मके केन्द्र स्थान स्थापित हो गये थे। आगे उनका परिचय दिया जाता है।

कर्नाटकके जैन केन्द्र

कर्नाटकके मैसूर प्रदेशमें प्रारम्भसे ही जैन धर्मका अच्छा प्रभाव था। उनमें श्रवणबेलगोला, पोदनपुर, कोपळ, पुन्नाड, हनसोगे, तलकाद, हुमच, बल्लिगामे, कुप्पटूर और वनवासेका नाम उल्लेखनीय है। उनमें भी श्रवणबेलगोला और कोप्पळ महातीर्थ थे।

पाठक जानते हैं कि श्रुतकेवली भद्रबाहुका श्रवणबेलगोलाके साथ सम्बन्ध था। वहीपर उन्होने समाधिमरण किया था। वहाँकी जिस चन्द्रगिरि (पहाडी) पर ६०० ई० के एक शिलालेखमें सब विवरण अकित है वह पुन्नाडका ही उत्तरी भाग है। उसके सामने विन्ध्यगिरि (पहाडी) पर चामुण्डरायके द्वारा स्थापित गोम्मटेश्वरकी उत्तुगमूर्ति स्थित है। कहा जाता है कि ऋषभदेव भगवान्‌के पुत्र भरतने अपने छोटे भाई बाहुबलिकी ५२५ धनुष ऊँची मूर्ति पोदनपुरमें स्थापित करायी थी, उसीकी स्मृतिमें चामुण्डरायने श्रवणबेलगोलामें बाहुबलिकी उत्तुग मूर्तिकी स्थापना की थी।

यह [1]पोदनपुर निजामाबाद जिलेमें स्थित बोधन नामक वर्तमान तालुका ही है। यहाँ अनेक प्राचीन जैन शिलालेख, मूर्तियाँ तथा अन्य पुरातत्त्व प्रचुर परिमाणमें पाये जाते हैं। सोमेश्वर प्रथमके एक शिलालेख (१०५६ ई०) से ज्ञात होता है कि बोधन राष्ट्रकूट सम्राट् इन्द्रवल्लभकी राजधानी थी। यहाँ एक मस्जिद है वह पहले एक जैन मन्दिर था। मस्जिदके स्तम्भोंपर तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। इस स्थानका पुराना नाम पोदन था। यह केवल अनुमान मात्र नहीं है। पम्प कविके कन्नड काव्य भारतमें लिखा है कि युद्धमल्ल प्रथम बोधनमें प्रतिदिन पाँचसो हाथियोंके अभिषेक समारोहमें सम्मिलित होता था। यही बात उन्हीं शब्दोंमें वेमुलवाड स्तम्भके शिलालेखमें तथा परभणी ताम्रपत्रमें भी अंकित है जो संस्कृतमें है। दोनोंमें बोधनके स्थानमें पोदन शब्द अंकित है। इससे प्रमाणित होता है कि बोधन ही पुराना पोदनपुर था। पोदनपुर बाहुबलीकी राजधानी थी।

श्रवणबेलगोलासे दूसरे नम्बरका महत्त्वपूर्ण महातीर्थ कोप्पल है जो वर्तमानमें कोप्पळ नामसे स्थित है। सातवीं शताब्दीसे सोलहवीं शताब्दी तक यह स्थान जैन धर्मका महान् केन्द्र रहा है। उससे पूर्व वह बौद्ध धर्मका केन्द्र था। शिमोगा[2] जिलेसे प्राप्त एक शिलालेखके अनुसार यह स्थान जैन धर्मके लाखों तीर्थ स्थानोंमें अग्रगण्य था। यहाँ अनेक जैन मन्दिर थे, किंवदन्तीके अनुसार उनकी संख्या ७२२ थी। यहाँ विभिन्न स्थानोंसे साधु और गृहस्थ धार्मिक कृत्य करनेके लिए आते थे। कोप्पलसे सम्बद्ध पालकीगुण्डु पहाडीपर अशोकके शिलालेखके पासमें दो चरणचिह्न हैं और उनके नीचे पुरानी कनडीमें दो पंक्तिका एक शिलालेख है उसमें लिखा है कि चावय्यने जटासिंहनन्दिके चरणचिह्नोंको अंकित किया है। [3]यह जटासिंहनन्दि वरांग चरितके कर्ता हैं। शासक और अधिकारी यहाँ जिनमन्दिरोंका निर्माण कराते थे। वर्तमानमें यहाँ एक वेंकटेश मन्दिर है जो पहले अवश्य ही जैन मन्दिर था क्योंकि उसके स्तम्भोंपर जैन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

हैदराबादके पुरातत्त्व विभागने कोप्वलके कन्नड शिलालेखोंपर एक लेख प्रकाशित कराया है। उसमें जैन केन्द्रोंके इतिहासके पुनर्निर्माणके लिए पर्याप्त सामग्री है।

येडतोरे ताल्लुकामें चिक्क हनसोगे भी जैन धर्मका केन्द्र था, किसी समय वहाँ ६४ बसदियाँ थीं। अब सब खण्डहर हो गयी है। नगर ताल्लुकेमें तीर्थ हल्लि-

---

१ मि० जै०, पृ० १८६। जै० सा० इ०, पृ० २०२।

२ जै० सा० इ०, पृ० २०२-२०३।

३ वरांग चरितकी प्रस्ता०, डॉ० उपाध्ये।

से उत्तरमें बाईस मीलपर पोम्बुच्च नामक स्थान है जिसे वर्तमानमें हूमच कहते हैं। नौवीं और दसवीं शताब्दीमें यह भी जैन धर्मका एक प्रमुख केन्द्र था। उसका सबसे प्राचीन मन्दिर ८७८ ई० में बनाया गया था। आज भी वहाँका विशाल मठ और पार्श्वनाथ तथा पद्मावतीके मन्दिर चारो ओरके जैनोको आकृष्ट करते हैं।

११वी शताब्दीमें बल्लिगामे जैन धर्मका प्रमुख केन्द्र था। राजा विक्रमादित्य पष्ठने यहांके चालुक्य गग पेरम्माडि जिनालयको दान दिया था। तथा होयसल नरेश वीर बल्लालके राज्यकालमें नागरखण्डके अधिकारियोने कुछ दान दिया था। यह दान मल्लिकामोद शान्तिनाथ भगवान्की पूजाके लिए दिया गया था। आज वहाँ खण्डित जैन मूर्तियोके अतिरिक्त अन्य कोई चिह्न जैनत्वका अवशेष नही है।

हैदराबाद

हैंदराबाद[1] के प्रदेशमें पाये जानेवाले जैन पुरातत्त्वमें उल्लेखनीय उसके गुफा मन्दिर हैं। एलोराकी जैन गुफाएँ जिस पहाडीपर स्थित है उसे चारणाद्रि या चारण मुनियोकी पहाडी कहते हैं। शिलालेखोसे एलोराके गुफा मन्दिरोका समय ८वी से १३वीं शताब्दी तक निर्णीत होता है। जैन गुफामें पार्श्वनाथ तीर्थंकरकी विशाल मूर्ति है। उसके नीचे शिलालेख है उसका समय १२३४-३५ ई० है।

उस्मानाबादके नामसे प्रसिद्ध धाराशिवके निकट सात गुफाएँ हैं। उनमें-से चार जैन गुफाएँ हैं। ये ईसवी पूर्व ५वीं शताब्दीकी होनी चाहिए क्योकि करकण्डु चरितमें लिखा है कि अग देशका राजा करकण्डु तेरपुर आया और वहाँ उसने दो गुफाएँ देखी। करकण्डु बुद्ध और महावीरसे पूर्ववर्ती हैं इस बातको जैन और बौद्ध दोनो स्वीकार करते हैं। दूसरे उन गुफाओमें महावीर तीर्थंकरकी मूर्ति नही है। इससे अवश्य ही उन गुफा मन्दिरोका काल ईसा पूर्व ५वीं शताब्दी ठहरता है।

महाराष्ट्र-कर्नाटक

अब हम महाराष्ट्र प्रदेशसे सम्बद्ध कर्नाटक प्रदेशकी ओर आते हैं। महाराष्ट्र प्रदेशके चार जिले बीजापुर, बेलगांव, धारवार, और उत्तर कनारा कर्णाटक प्रदेशसे सम्बद्ध हैं।

---

१ जै० सा० इ० पृ० ९९-१००।

बीजापुर जिलेका होनवाड नामक स्थान ११वीं शताब्दीके मध्यमें त्रिभुवन-तिलक जिनालयके कारण बहुत प्रसिद्ध था। यह मन्दिर शान्तिनाथ भगवान्का था। उसके समीपमें पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथके जिनालय थे। यह मन्दिर चाकिराजके धार्मिक उत्साहके कारण बना था। चाकिराज सोमेश्वर प्रथमकी रानी केतलदेवीका एक अधिकारी था और जैन धर्मका अनुयायी था।

हुनगुन्दका प्राचीन नाम पोन्नुगुण्ड था। प्राचीनकालसे ही यहाँ जैन धर्मका अच्छा प्रचार था। यहाँसे प्राप्त १०७४ ई० के एक शिलालेखमें एक जैन मन्दिर-को भूमिदान करनेका उल्लेख है। दान लेनेवाला आर्य पण्डित मूलसघ, सूरस्थ गण और चित्रकूट अन्वयका था।

बेलगाँव जिला और उसके आसपासका प्रदेश शिलाहार और रट्ट वशके राजकुमारोंके शासनमें था, जो जैन धर्मके अनुयायी थे। खानापुर तालुकेका हलसी नामक स्थान कभी जैन धर्मका केन्द्र था। इसका पुराना नाम पलाशिका था। यहाँसे कदम्ब राजाओंके द्वारा जारी किये गये अनेक ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं जिनके प्रारम्भमें जिनस्तुति अंकित है तथा जैन मन्दिरों वगैरहको दान देनेका उल्लेख है। [1]कदम्बराज मृगेशवर्माके राज्यके आठवें वर्षमें जारी किये गये एक ताम्रपत्रमें लिखा है कि उसने अपने पिताकी स्मृतिमें पलाशिकामें एक मन्दिरका निर्माण कराया तथा अर्हत् और यापनीय निर्ग्रन्थ तथा कूर्चक सम्प्र-दायके साधुओंके लिए भूमिदान दिया। रविवर्मा अपने पूर्वजसे भी अधिक जैन धर्मका भक्त था। उसने एक आज्ञापत्र जारी किया कि प्रतिवर्ष अमुक दिनोंमें जैन धर्मका महोत्सव अवश्य होना चाहिए, वर्षाऋतुके चार महीनोंमें यापनीय साधुओंको आहार दिया जाना चाहिए और धार्मिक नागरिकोंको जिनेन्द्रकी पूजा बराबर करनी चाहिए। इसी तरह अन्य भी कई दानपत्रोंमें जिनेन्द्रकी पूजा, महोत्सव आदिके लिए दान देनेका उल्लेख मिलता है। ये सब दानपत्र ५वीं-६ठी शताब्दीसे सम्बद्ध हैं। किन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि आज हलसीमें जैन धर्मका कोई अवशेष नहीं है। परन्तु ब्राह्मण धर्मके अनेक मन्दिर तथा अवशेष पाये जाते हैं जो ग्यारहवीं शताब्दी तथा उसके बादके हैं। लगभग ९० वर्ष हुए, कदम्ब राजाओंके द्वारा जारी किये गये कुछ ताम्रपत्र, जो जैन धर्मसे सम्बद्ध थे, हलसीके बाहर एक कुएँके पाससे जमीनमें गढे हुए मिले थे। मालूम होता है कि जब जैन धर्म इस प्रदेशसे लुप्त हो गया तो जैनोंने उनका कोई उपयोग न देखकर उन्हें पृथ्वीमें गाड दिया होगा।

---

१ जै० शा० ६०, पृ० ११०।

सौदत्ती[1]

इसका प्राचीन नाम सोगन्धवर्ती था। नौवीं शताब्दीसे यह स्थान धीरे-धीरे जैन धर्मका एक शक्तिशाली केन्द्र बनता गया। यह राष्ट्रकूट या रट्टवंशके सामन्तोंकी राजधानी थी। उन्होंने १०वीं शताब्दीके प्रारम्भमें राजनैतिक प्रमुखता प्राप्त की थी। यहाँके अकलेश्वर या अंकेश्वर मन्दिरसे प्राप्त एक शिलालेखमें रट्टवंशके प्राचीन शासकोंके धार्मिक रुझान तथा कार्योंका, जिनसे इस प्रदेशमें जैन धर्मका प्रचार हुआ, वर्णन मिलता है।

रट्टवंशके प्रमुख प्रारम्भसे ही जैन धर्मके अनुयायी रहे हैं। महासामन्त पृथ्वीराय राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीयका महासामन्त था। वह इन्द्रकीर्तिका शिष्य था। उसने एक जिनालयका निर्माण कराकर उसे भूमि प्रदान की थी। इन्द्रकीर्तिके पूर्वज कारेयगणके थे। किन्तु उसमें यह नहीं लिखा कि कारेयगण किस संघसे सम्बद्ध था। किन्तु बाडली और हन्निकेरिके शिलालेखोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कारेयगण यापनीय संघका एक गण था। अत. सौदत्ती नौवीं शताब्दीमें यापनीय संघका एक प्रमुख केन्द्र होना चाहिए।

सौदत्तीके ही उक्त मन्दिरमें एक अन्य शिलालेख ९८० ई० का है। इसमें रट्टरपट्ट जिनालयके उल्लेखके साथ रट्टवंशके द्वारा जैन धर्मको मिलनेवाले संरक्षणका विवरण है। महासामन्त शान्तिवर्मा पृथ्वीरामका पौत्र था तथा वह कल्याणीके चालुक्य नरेश तैल द्वितीयका सामन्त था। उसने सोगन्धवर्तीमें एक जिनालयका निर्माण कराकर उसके प्रबन्धके लिए भूमिदान किया था। उसकी माताने भी उस जिनालयको दान दिया था और उस दानको भुजबलि भट्टारकने स्वीकार किया था। भुजबलि भट्टारक कण्डूर गणके थे जो यापनीय संघकी एक शाखा थी। उक्त शिलालेखमें उसी संघके पाँच अन्य गुरुओंका उल्लेख है। उनके नाम – रविचन्द स्वामी, अर्हनन्दि, शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव, मौनिदेव और प्रभाचन्द्र थे।

जैन धर्मको रट्टवंशके उत्तराधिकारियोंकी ओरसे भी बराबर संरक्षण मिला था। कार्तवीर्य प्रथमके पौत्र महासामन्त अंकने कल्याणीके चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथमके राज्यकालमें १०४८ ई० में एक जैन मन्दिरको भूमिदान किया था। अंकके भतीजे कालसेण प्रथमने सोगन्धवर्तीमें एक जिनालयका निर्माण कराया था। कालसेणका पुत्र महामण्डलेश्वर कन्नकैर द्वितीय कनकप्रभ सिद्धान्तदेव त्रैविद्यका शिष्य था। महामण्डलेश्वर कार्तवीर्य द्वितीय कन्नकैर द्वितीयका लघु-

---

१ जै० सा० इ०, पृ० ११२-११३।

भ्राता था उसने अपने गुरुको भूमिदान किया था। उसकी पट्टरानी भोगल-देवी भी जैन धर्मकी संरक्षिका थी। कार्तवीर्य द्वितीयके पुत्र सेण द्वितीयने अपने दादा सेण प्रथमके द्वारा बनवाये गये जिनालयको दान दिया था।

सौदत्तीसे प्राप्त एक अन्य शिलालेखमें जिसका समय १२२८ ई० है, एक जैन गुरुका विवरण दिया है। उसका नाम मुनिचन्द्र था और वह रट्टराजका गुरु था। साथ ही राज्यके प्रशासनमें और सेना सम्बन्धी कार्योंमें भी भाग लेता था। रट्टराज लक्ष्मीदेव द्वितीय और उसके पिता कार्तवीर्य चतुर्थ उसके धार्मिक उपदेशों तथा राजनैतिक चातुर्यके ऋणी थे। इस शिलालेखमें कुछ अन्य जैन गुरुओंका भी उल्लेख है। प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव हुलिकी माणिक्य तीर्थ वसदिके प्रवन्धक थे। उसके साथी शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव थे। प्रभाचन्द्रके शिष्य इन्द्र-कीर्ति और श्रीधरदेव थे।

कोण्णूर –

गोकाक तालुकेका यह ग्राम जैन धर्मका प्रमुख स्थान था। यह रट्ट राजाओंके प्रदेशके अन्तर्गत था। यहाँसे प्राप्त एक शिलालेखमें रट्टराजाओंके द्वारा जैन धर्म और उसके गुरुओंको दिये गये संरक्षणका विवरण है।

कलहोली[1]

यह भी गोकाक तालुकेका एक गाँव है। यहाँसे प्राप्त एक शिलालेखमें जैनोंके द्वारा इस प्रदेशमें किये गये कार्योंका विवरण है।

हुलि –

सौदत्ती तालुकामें हुलि नामक गाँव है। एक समय यहाँ जैनोंकी स्थिति विशेष आदरणीय थी। यापनीय संघकी दो विभिन्न शाखाओंके आचार्य वहाँ रहते थे। उनमें-से एक शाखाका नाम कण्डूर गण था और दूसरीका नाम पुन्नाग वृक्षमूल गण था।

हन्निकेरे –

यहाँसे प्राप्त एक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि रट्टराज लक्ष्मीदेव प्रथम यापनीय संघका संरक्षक था। यह शिलालेख १२०९ ई० का है और इसमें यापनीय संघ, मैलाप अन्वय और कारेय गणके आचार्योंका उल्लेख है।

---

१ जै० शा० इ०, पृ० ११६।

तेरदाल[1]—

तेरदाल ११-१२वीं शताब्दीमें रट्टवंशके शासको तथा समृद्ध धनिक व्यापारियोकी सहायतासे जैन धर्मका प्रसिद्ध केन्द्र बन गया था। इस प्रदेशका शासक मण्डलिक गोक जैन धर्मका पक्का अनुयायी था। तेरदालके जैन मन्दिरसे प्राप्त शिलालेखमे एक कथाके द्वारा गोकके जैन धर्ममें दृढ विश्वासका वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि पच परमेष्ठीके नाम स्मरणसे गोकका सर्पविप दूर हो गया था। तेरदालमें गोकने नेमिनाथका मन्दिर बनवाया था और उसके प्रबन्ध तथा जैन साधुओके आहार दानके लिए भूमिदान किया था। यह दान रट्टनरेश कार्तवीर्य द्वितीयके शासनमें ११२३-२४ ई० में माघनन्दि सैद्धान्तिकको दिया गया था। माघनन्दि कोल्लापुर या कोल्लगिरि-की रूपनारायण वसदिके प्रबन्धक थे। तथा मूलसघ, कुन्दकुन्दान्वय, देसिगगण और पुस्तक गच्छके कुलचन्द्रदेवके शिष्य थे। रूपनारायण वसदिका निर्माण सामन्त निम्बदेवने कराया था। निम्बदेव जैन धर्मका पक्का अनुयायी था। उसने प्रथम कोल्हापुरमें रूपनारायण वसदिका निर्माण कराकर अपना धर्मप्रेम प्रकट किया। पश्चात् ११३५ ई० में भगवान् पार्श्वनाथका मन्दिर बनवाया। वर्तमानमें शुक्रवार दरवाजेके पास जो पार्श्वनाथका मन्दिर कोल्हापुरमें है वह अवश्य ही निम्बदेवके द्वारा निर्मित प्राचीन मन्दिरका ही नवीन रूप है।

कोल्हापुर प्राचीन समयसे ही जैन धर्मका केन्द्र रहा है। और उसने आजतक अपनी सुकीर्तिको बनाये रखा है। जैन समाजके चार प्रधान मठ स्थानोमें उसका भी नाम है। यहाँसे प्राप्त एक १७७४ ई० के लेखमें जिनसेन भट्टारकका उल्लेख है और उन्हें दिल्ली, करवीर (कोल्हापुर) जिनकाची और पेनुगोण्डका सिंहासनाधीश्वर, बतलाया है।

बेलगाँव—

बेलगांव जिलेके जैन मन्दिरसे प्राप्त दो शिलालेखोसे ज्ञात होता है कि रट्टवशके राजाओके ठोस समर्थन और सरक्षणमें १३वी शताब्दीके प्रारम्भ-में बेलगांव प्रदेशमें जैन धर्म कितना फैला हुआ था। दोनो शिलालेखोंका समय १२०४ ई० है। और उनमें रट्टनरेश कार्तवीर्य चतुर्थके द्वारा शान्तिनाथ-के मन्दिरको दान देनेका उल्लेख है। राजाके मन्त्री बीचण या बीचिराजने इस जिनालयका निर्माण कराया था और उसका नाम रट्टजिनालय रखा था।

---

१ जै० सा० इ०, पृ० ११६ आदि।

कार्तवीर्य चतुर्थ और वीचिदेव दोनो जैन धर्मके अनुयायी थे। उक्त जिनालयको वहांके व्यापारी वर्गने भी कुछ दान दिया था।

मुलगुन्द—

धारवाड जिलेके गदग तालुकामें मुलगुन्द प्राचीन समयसे जैन धर्मका प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। यह बात यहांसे प्राप्त शिलालेखोंसे, जो दसवीं शताब्दीके प्रारम्भ कालके हैं, ज्ञात होती है। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीयके राज्यकालमें ९०२–३ ई० में चिकार्यने एक उत्तुग जिनालय बनवाया था और उसके पुत्र अरसार्यने उसके प्रबन्धादिके लिए दान दिया था। यह दान चन्द्रिकावाटके सेनान्वयके कनकसेनको दिया गया था। कनकसेन वीरसेनके शिष्य थे और वीरसेन कुमारसेनके मुख्य शिष्य थे। चामुण्डराय[1] पुराणके प्रारम्भमें भी कुमारसेनका उल्लेख है और ये दोनो एक ही व्यक्ति होना चाहिए।

मुलगुन्दके नारायण मन्दिरके सामने ध्वज स्तम्भपर एक लेख अंकित है उसमें उसे मानस्तम्भ लिखा है और उसका निर्माणकाल ९७७–७८ ई० बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि यह स्तम्भ किसी जिनालयसे सम्बद्ध था। नारायण मन्दिरके निर्माताओंने उसे ध्वज स्तम्भके रूपमें बदल दिया।

मगुंडी—

१२–१३वीं शताब्दीमें धारवाड तालुकाका मगुडी नामक स्थान जैन धर्मका प्रमुख स्थान था। यहां एक नगर जिनालय था जो यापनीय संघके प्रबन्धमें था।

अडोनि[2]—

मद्रासके अन्तर्गत बेल्लरी जिलेका अडोनि तालुका पूर्वसे ही जैन धर्मसे प्रभावित रहा, प्रतीत होता है। यहांपर पाये जानेवाले कुछ जैन अवशेष उल्लेखनीय हैं। अडोनिकी बारकिल्ल पहाडीपर चट्टान काटकर बनवाया गया एक जैन मन्दिर है। उसमें तीर्थंकरोंकी मूर्तियां हैं। पहाडी किलेमें भगवान् पार्श्वनाथकी एक मूर्ति है। अडोनि ताल्लुकाके हालहरवि नामक ग्रामके एक पहाडीपर राष्ट्रकूट कालका एक शिलालेख है। उसमें लिखा है कि 'जब कन्नरकी रानी चन्द्राब्बे सिन्दवाडी १००० पर शासन करती थी, उसने नन्दवरपर एक जैन मन्दिरका निर्माण कराया था। और उसके प्रबन्धके लिए दान

---

1 जै० मा० ५०, पृ० १३४–५।
2 वही पृ० १४६।

दिया था। यह लेख शक स० ८५४ या ९३२ ई० का नित्यवर्षके राज्य-कालका है।

कोगली—

हडगल्लि तालुकामें कोगली प्राचीन कालसे ही जैन धर्मका एक प्रमुख केन्द्र रहा है। यद्यपि यहांसे उपलब्ध सबसे प्राचीन शिलालेखका समय १०वीं शताब्दी है तथापि इसका इतिहास पुराना है। जैन मन्दिरके पाससे प्राप्त शिलालेखका समय ९९२ ई० है और वह कल्याणीके पश्चिमीय चालुक्यवंशके संस्थापक आहवमल्ल या तैलप द्वितीयके राज्यकालका है। उसमें मन्दिरके लिए भूमिदानका निर्देश है। उसी मन्दिरके सामने स्थित एक अन्य शिलालेखमें मन्दिरकी स्थापनाका इतिवृत्त दिया है। उसमें लिखा है कि इस मन्दिरका निर्माण दुर्विनीतने कराया। यह दुर्विनीत पश्चिमी गंगनरेश था जो ५वीं शताब्दीमें राज्य करता था। इस शिलालेखका समय १०५५ ई० है। कन्नड[1] साहित्यके इतिहासकी दृष्टिसे भी यह लेख महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

उसी मन्दिरके स्तम्भपर एक अन्य शिलालेख अंकित है उससे उक्त समयसे दो शताब्दी पश्चात्की जैन धर्मकी स्थानीय स्थितिपर प्रकाश पड़ता है। उसमें भगवान् चेन्न पार्श्वनाथकी प्रतिदिनकी पूजाके लिए धन देनेका उल्लेख है। दाताओंमें सभी वर्गोंके और विविध स्थानोंके स्त्री-पुरुष हैं। लेखमें इस स्थानको 'तीर्थ' बतलाया है। शिलालेखका समय १२७६ ई० है।

नन्दि बेवुरु—

हरपनहल्लि तालुकामें आज नन्दि बेवुरु एक साधारण-सा गांव है किन्तु एक समय वह जैन धर्मका प्रमुख केन्द्र था और राजवंशों तथा राज्याधि-कारियोंको भी आकृष्ट करता था। ११वीं शताब्दीमें यहाँ एक धर्मगुरु रहते थे। उन्होंने मन्दिरका निर्माण कराया था। उस मन्दिरको इस प्रदेशके शासक जगदेकमल्ल नोलम्बने भूमिदान की थी। जिस शिलालेखसे यह जान-कारी प्राप्त होती है वह पश्चिमी चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथमके राजकालमें सन् १०५४ ई० में लिखा गया था।

कोण्डकुण्डे—

वर्तमानमें कोनकोण्डल नामक गांव गुण्टकल रेलवे स्टेशनसे लगभग चार मील है। यह अनन्तपुर जिलेके गोटी तालुकामें है। पहले हम कोपण

---

१ जै० सा० इ०, पृ० १५०।

नामक जैन केन्द्रका वर्णन कर आये हैं। यह उससे अनेक बातोंमें मिलता-जुलता है। यहाँके अधिकांश जैन अवशेष गाँवसे उत्तरमें दो फर्लांगकी दूरीपर रसासिद्दुल गुट्ट नामक छोटी-सी पहाड़ीपर मिलते हैं। 'रसासिद्दुल'-का अर्थ है—रसायन बनानेवालोंकी पहाड़ी। और यह नाम सार्थक है। पहाड़ीके ऊपर एक मन्दिर है। इस मन्दिरमें तीर्थंकरोंकी दो मूर्तियाँ खड्गासनसे विराजमान हैं। उनके सिरपर तीन छत्र और दोनों ओर दो शासन देवता हैं। उनका समय मोटे तौरपर तेरहवीं शताब्दी है। जनताके विश्वासके अनुसार तीर्थंकरोंकी दोनों मूर्तियाँ रससिद्धोंकी मूर्तियाँ हैं। जब कभी वर्षा नहीं होती या देरमें होती है तो लोग उनकी प्रार्थना करते हैं और उन्हें भेंट चढ़ाते हैं और वर्षा हो जाती है।

यहाँ अनेक शिलालेख पाये जाते हैं जिनमें-से कुछ अवश्य ही जैन हैं। एक प्राचीन शिलालेख सातवीं शताब्दीका है। एक दूसरा शिलालेख लगभग दसवीं शताब्दीका है। उसमें लिखा है कि नागसेन देवकी यह समाधि है। एक सोलहवीं शताब्दीके शिलालेखमें विद्यानन्द स्वामीका निर्देश है। यह सम्भवतया वादि विद्यानन्द हैं जो सोलहवीं शताब्दीमें हुए हैं।[1]

एक शिलालेख गाँवमें आदि चेन्नकेशव मन्दिरके सामने लगे पाषाणपर अंकित है। उसमें इसे पद्मनन्दि भट्टारककी जन्मभूमि बतलाया है। साथ ही इसमें चारणोंका और कुन्दकुन्दान्वयका भी उल्लेख है। इसपर-से श्री पी॰ बी॰ देसाईका अनुमान है कि वर्तमान कोनकोण्डल कुन्दकुन्द आचार्यकी भूमि है।[2] उन्होंने यह भी लिखा है कि इस प्रदेशमें फैली हुई जनश्रुतिके अनुसार भी इस स्थानका सम्बन्ध कुन्दकुन्दाचार्यके साथ सिद्ध होता है। किन्तु आज यहाँ जैन धर्मका एक भी अनुयायी नहीं है।

मडक शिरा [Madakaśira] तालुका—

मडकशिरा तालुका अवश्य ही जैन धर्मका केन्द्र रहा है। यहाँके हेमावती, अमरापुरम्, कोट्टशिवरम्, पाटशिवरम् और तम्मदहल्लि गाँवोंमें मन्दिर, निषिधि, शिलालेख आदि जैन पुरातत्त्व बहुतायतसे पाया जाता है। हेमावती नोलम्ब पल्लवोंकी राजधानी थी। यहाँके एक शिवमन्दिरके आँगनमें एक टूटे हुए स्तम्भपर एक त्रुटित शिलालेख है जो नौवीं शताब्दीका है। उसमें

---

1 जै॰ सा॰ इ॰, पृ॰ १५३।

2 जै॰ सा॰ इ॰, पृ॰ १५५।

नोलम्ब पल्लव शासक महेन्द्र प्रथम और उसके पुत्र अय्यपके द्वारा स्थानीय जैन मन्दिरको दान देनेका उल्लेख है।

अमरापुरम्—

अमरापुरम्में १३वीं शताब्दीमें ब्रह्म जिनालय नामक एक शानदार जैन मन्दिर था। उसका निर्माण त्रिभुवनकीर्तिके शिष्य बालेन्दु मलधारिदेवने कराया था। उसके लिए मल्लि सेट्टीने तम्मद हल्लीमें दो हजार सुपारीके वृक्ष प्रदान किये थे। उनकी आयका उपयोग मन्दिरकी नींवसे लेकर गुम्बज तक पत्थरसे पुन निर्माणमें किया गया। यह दान एक जैन ब्राह्मणको दिया गया था जो वशिष्ठ गोत्रका था। उस समय नोलम्ब पल्लव राज इरुगोल द्वितीयका राज्य था। वह जैन धर्मका संरक्षक और अनुयायी था। जिस लेखमें यह सूचना दी गयी है उसका समय १२७८ ई० है।

अमरापुरम्में अनेक निषिधियाँ हैं उनमें एक प्रभाचन्द्र भट्टारक की है और एक मूलसघ सेनगणके भावसेन त्रैविद्य चक्रवर्तीकी है।

पाटशिवरम्—

इस ग्रामके दक्षिण प्रवेशद्वारपर स्थित एक स्तम्भपर एक खण्डित शिलालेखमें वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य पद्मप्रभ मलधारी देवके सम्बन्धमें एक श्लोक अकित है —

[1]सकवर्षे सस खेंदु क्षिति ११०७ परिमिति विश्वा वसु प्रान्त फाल्गु
न्यकनच्छुद्धा चतुर्थी तिथियुत भरणी सोमवारार्द्ध रात्रा- ।
धिक नाड्येकांत्यदोल्लु निर्म्मल मति मलभृं नाम पद्मप्रभ पु-
स्तक गच्छं मूलसघ यतिपति नुत देसीगणं मुक्तनादं ।

अर्थात् शक ११०७, विश्वावसु, फाल्गुन शु० ४, भरणी, सोमवारको अर्थात् २४ फरवरी ११८५ ई० को सोमवारके दिन पद्मप्रभ मलधारिदेवका स्वर्गवास हुआ। पद्मप्रभ मलधारिदेव कुन्दकुन्दाचार्यके नियमसारकी तात्पर्य वृत्तिके रचयिता हैं।

उक्त लेख पश्चिमीय चालुक्य नरेश सोमेश्वर चतुर्थके राज्यकालका है। कर्नाटकको प्रसिद्ध [2]नन्दि पहाडीपर कभी प्राचीन जिनालय स्थित था। अब तो जिनमूर्तिका स्थान गोपाल स्वामीकी मूर्तिने ले लिया है और जैन धर्मका कोई

---

१ जै० शि० स०, पृ० १५६।
२ मिडि० जै०, पृ० २५५।

चिह्न वहाँ नहीं है। किन्तु गंगकालीन (८वीं शती) एक शिलालेखसे उक्त रहस्य प्रकट होता है।

आरसियकेरे तालुकाका लक्ष्मी देवी हल्लि नामक गाँव भी नौवीं शताब्दीमें जैन धर्मका प्रधान केन्द्र था। उसमें एक जिनालय है। होले नरसीपुर तालुकाके अकनाथपुरके अकनाथेश्वर और सुब्रह्मण्य मन्दिर किसी समय जैन मन्दिर थे। इन मन्दिरोंके आसपास जैन साध्वियोंके स्मारक पाये जाते हैं।

मैसूर प्रदेशका वरुण नामक स्थान नौवीं शताब्दीमें पश्चिमीय चालुक्योंकी एक शाखाका स्थान था। यहाँ बहुत-से जैन मन्दिर थे, उनके अवशेष गाँवके पश्चिममें मिलते हैं। ६ खण्डित जैन मूर्तियाँ आज भी वहाँ पड़ी हुई हैं।

श्रीरंगपट्टणसे दक्षिणमें चार मीलपर कल्सतवाडु नामक स्थान ग्यारहवीं शताब्दीमें एक प्रमुख जैन केन्द्र था। एक गाडी-भर धातु मूर्तियोंसे यह स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शताब्दीमें यह एक उन्नत जैन स्थान था।

मैसूरके निकट चामुण्डा नामकी प्रसिद्ध पहाड़ी भी एक समय जैन तीर्थ थी। ११२७ ई० में इसे मरबल तीर्थ कहते थे। उसीका संस्कृत रूप महाबलेश्वर वर्तमानमें प्रचलित है।

इस प्रकार कर्नाटकमें जैन केन्द्रोंका प्राचुर्य था। उन सबका उल्लेख मात्र करनेके लिए भी पर्याप्त स्थानकी आवश्यकता है।

कर्नाटककी जैन कला

[1]कर्नाटकको जैन धर्मकी एक बड़ी देन उसकी मूर्तिकला है। जैन मूर्तिकलाका एक निर्धारित रूप है और कलाकारको उसे लेकर चलना होता है। इसीसे एक हजार वर्षके विभिन्न समयोंमें निर्मित जैन मूर्तियोंकी 'स्टाइल'में अन्तर नहीं देखा जाता। इसके उदाहरणके रूपमें कर्नाटककी तीन विशाल जैन मूर्तियोंको उपस्थित किया जा सकता है। वे हैं श्रवणबेलगोला, कारकल और वेनूरकी गोम्मटेश्वर या बाहुबलीकी मूर्तियाँ। इनमें वेनूरकी मूर्ति तीनोंमें सबसे छोटी अर्थात् ३५ फीट ऊँची है और श्रवणबेलगोलाकी मूर्ति सबसे बड़ी अर्थात् ५७ फीट ऊँची है। उनका समय क्रमसे ९८३ ई०, १४३२ ई०, और १६०४ ई० के लगभग है। तीनों मूर्तियाँ यथायोग्य ऊँचे स्थानपर विराजमान हैं। दूरसे दृष्टिगोचर होती हैं, और दर्शकोंको बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। तीनोंमें एक दिगम्बर जैन साधुकी भव्यता पायी जाती है।

---

१ ई० क० व०, पृ० १०२ आदि।

बादामीकी जैन गुफामें भी इसी प्रकार आकृतियाँ पायी जाती हैं, जो उक्त तीनों जैन मूर्तियोंसे प्राचीन हैं। उनका समय ६०० ई० आँका गया है। उनका भी वही आदर्श रूप है, जो एक ध्यानमें निमग्न साधुका होता है।

कर्नाटकमें प्रत्येक जैन मन्दिरके सामने एक स्तम्भ खड़ा हुआ पाया जाता है। यह भी जैन कलाकी अपनी एक विशेषताको बतलाता है। स्मिथने लिखा है कि समस्त भारतीय कलामें सम्भवतया इन कर्नाटक स्तम्भोंकी बराबरी करनेवाली दूसरी वस्तु नहीं है। उदाहरणके लिए मूडबिद्रीके एक मन्दिरके सामने स्थित स्तम्भ ५२½ फीट ऊँचा है, पाषाण निर्मित है और इसकी भव्यता अपरूप है। अकेले दक्षिण कनारा जिलेमें ही इस प्रकारके बीस स्तम्भ हैं।

कर्नाटकमें इस प्रकारके स्तम्भोंके दो रूप पाये जाते हैं, एकको ब्रह्मदेव स्तम्भ कहते हैं और दूसरेको मानस्तम्भ। प्रथमपर ब्राह्मण देव ब्रह्मकी मूर्ति अंकित होती है। और मान स्तम्भ उससे लम्बा होता है और उसके ऊपरके भागपर एक गुमटी बनी रहती है। चन्द्रगिरिपर स्थित त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ एक सुन्दर कलाकृति है। श्रवणबेलगोलाकी पार्श्वनाथ बस्तीके सामने एक सुन्दर मानस्तम्भ है। ये स्तम्भ हिन्दू मन्दिरोंके दीपस्तम्भसे सर्वथा भिन्न होते हैं।

जैन मन्दिरोंकी भी अपनी एक विशेषता है। दक्षिण कनाराके जैन मन्दिरोंकी शैली तो और भी विशिष्ट है। मूडबिद्रीके जैनमन्दिर अधिकतर विजयनगर नरेशोंके समयके हैं, उनकी छतें ढालुआ हैं। इस शैलीका प्रभाव केवल दक्षिण कनारामें ही नहीं देखा जाता किन्तु आगे भी देखा जाता है। श्री लोगनने लिखा[1] है – 'जैन लोग अपने पीछे मन्दिर निर्माणकलाकी एक विशिष्ट शैली छोड़ गये हैं। क्योंकि हिन्दू मन्दिर तथा मालाबारकी मस्जिदें भी उसी शैलीमें बनायी गयी हैं। मूडबिद्री तथा दक्षिण कनाराके अन्य स्थानोंके जैन मन्दिरोंमें उस शैलीको आज भी देखा जा सकता है।'

श्रवणबेलगोलाके चन्द्रगिरिपर १५ वस्तियाँ हैं। वे सब द्रविड शैलीकी हैं। उत्तर भारतके जैन मन्दिरोंपर पाये जानेवाले शिखर उनपर नहीं हैं। और उनका साधारण बाह्यरूप उत्तर भारतके जैन मन्दिरोंके साधारणरूपसे कहीं अधिक अलंकृत है। किन्तु मूडबिद्रीकी बस्तियाँ उनसे सर्वथा भिन्न हैं।

वस्तियोंकी रूपरेखा प्राय सर्वत्र समान है। वे प्रकाशसे आलोकित विस्तीर्ण मण्डपोंसे शुरू होती हैं। उससे सम्बद्ध तीन बड़े और दो छोटे मण्डप

---

१ जै० क० क० पृ० ११२।

होते हैं जो एक गर्भगृहकी ओर जाते हैं जिसमें तीर्थंकरकी मूर्तियाँ विराजमान होती हैं। मैसूरमें छोटे मन्दिरोंकी एक विशेष शैली प्रचलित है। उसे त्रिकुटाचल कहते हैं। इस शैलीको होयसल शैली कहा जाता है। कारकल और गेरसोप्पामें पायी जानेवाली 'चतुर्मुख बस्ति' जैन मन्दिरका सर्वोत्तम 'मॉडल' मानी जाती है। स्तम्भोंकी दृष्टिसे मूडबिद्रीकी सहस्र स्तम्भ बस्ति उल्लेखनीय है। इसमें लगभग एक हजार स्तम्भ हैं और एक दूसरेसे मेल नहीं खाते। बेलगांवका जैन मन्दिर भी अपने कलापूर्ण स्तम्भोंके लिए प्रसिद्ध है।

जैनकलामें धार्मिकताका पुट अधिक है इसीसे किन्हींको उसमें सौन्दर्य भावनाकी कुछ कमी प्रतीत होती है। श्रवणबेलगोलाकी चन्द्रगुप्त बस्तिका बाह्य भाग पाषाणका बना हुआ है और उसपर भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तके जीवनकी घटनाएँ खुदी हुई हैं। इस प्रकार धार्मिक पुरुषोंका जीवन अंकित करना भी जैनकलाकी अपनी एक विशेषता है। यही कार्य चित्रकलाके द्वारा भी किया गया है। जैन[1] मठ श्रवणबेलगोलाकी भित्तियोंपर जैन आदर्शोंके निरूपक अनेक चित्र अंकित हैं। किन्तु इस तरहके चित्र कर्नाटकमें क्वचित् ही पाये जाते हैं। सित्तन्नवासलके एक जैन मन्दिरमें कुछ भित्तिचित्र पाये जाते हैं जो अजन्ताकी शैलीसे मिलते हुए हैं किन्तु इतने प्रभावक और आकर्षक नहीं हैं। किन्तु तिरुमलईके चित्र आकर्षक हैं।

दक्षिणके जैन ग्रन्थकार

दक्षिणके समस्त जैन ग्रन्थकारोंमें सबसे अधिक प्रभावशाली और प्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्द थे। उनके जन्मस्थानके सम्बन्धमें मतभेद है। कन्नड, तमिल तथा तेलगु भाषाभाषी उन्हें अपने-अपने प्रदेशसे सम्बद्ध करते हैं। दक्षिण भारतके ही नहीं, किन्तु समस्त भारतवर्षमें जैनोंपर उनका अपूर्व प्रभाव था। क्योंकि उत्तर कालीन सभी जैन ग्रन्थकारों, जैन गुरुओं और उल्लेखनीय जैन पुरुषोंने अपने ग्रन्थों, पट्टावलियों और शिलालेखोंमें अपनेको कुन्दकुन्दान्वयका बतलाया है।

कुन्दकुन्दके उपलब्ध ग्रन्थोंमें पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार और अष्टपाहुड अति प्रसिद्ध हैं। इन सबकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है। सभी ग्रन्थ छपकर प्रकाशित हो चुके हैं। उनपर उत्तरकालीन टीकाकारोंने संस्कृत, कन्नड और हिन्दीमें टीका भी की है।

कुन्दकुन्दके पश्चात् उनके शिष्य उमास्वाति या उमास्वामी हुए। उनके द्वारा रचित तत्त्वार्थाधिगम सूत्र जैनोंका संस्कृतमें आद्यसूत्र ग्रन्थ है। कुछ पाठ-

---

[1] जै० का० क० पृ० १२३।

भेदोके साथ उसे समस्त जैन मानते है। उसे जैनोकी बाइबिल भी कहा जाता है। उसपर दक्षिणके ही पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्दि-जैसे महान् टीकाकारोने सस्कृतमें अपने विशाल टीकाग्रन्थ रचे हैं जो भारतीय साहित्यकी अमर विभूति हैं।

दक्षिणके तीसरे महान् जैन ग्रन्थकार समन्तभद्र थे। यह बडे वादी थे। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि तकने अपनी अनेकान्तजयपताकामें उन्हें 'वादिमुख्य' लिखा है। टक्क या पजाबसे लेकर दक्षिणमें पल्लवोंकी राजधानी काची तकमें उन्होने अपनी जयदुन्दुभि बजायी थी।

उनके दार्शनिक ग्रन्थोमें आप्तमीमासाका नाम उल्लेखनीय है। इसके द्वारा उन्होंने मतान्तरोकी समीक्षा करते हुए अनेकान्तवादकी स्थापना की है। समन्तभद्रकी दूसरी प्रसिद्ध कृति रत्नकरण्ड श्रावकाचार है। इसमें श्रावकोके आचारका कथन है। इनके सिवाय समन्तभद्रने स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन और जिनस्तुति आदि प्रकरण तथा स्तोत्र रचे थे जो जैनदर्शनके अनमोल स्तुति ग्रन्थ हैं।

कर्नाटकमें इस महान् तार्किकका अवतरण न केवल जैन इतिहासमें किन्तु समस्त-दार्शनिक साहित्यके इतिहासमें एक स्मरणीय युगप्रवर्तक रूपमें माना जाता है।

समन्तभद्रके पश्चात् पूज्यपाद और अकलंकका नाम उल्लेखनीय है। इनमें से प्रथम निष्णात वैयाकरण थे और दूसरे महान् दार्शनिक। शिलालेखोंमें किसी विद्वान्की विद्वत्ताकी महत्ता बतलाते हुए यह लिखनेकी पद्धति थी कि वह व्याकरणमें पूज्यपाद है और तर्कशास्त्रमें अकलक हैं।

पूज्यपादका वास्तविक नाम तो देवनन्दि था, पूज्यपाद उनकी उपाधि थी। श्रवणबेलगोलाके शिलालेख[1] न० ४० (६४) में लिखा है कि उनका पहला नाम देवनन्दि था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ। इन्होंने जैनेन्द्र नामका एक व्याकरण ग्रन्थ रचा था। मुग्धबोधके कर्ता बोपदेवने[2] आठ वैयाकरणोके नामोमें जैनेन्द्रका भी उल्लेख किया है। पूज्यपादने उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि नामक टीकाग्रन्थ रचा था। इनके सिवाय उनके द्वारा रचित समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, दशभक्ति सस्कृत और सिद्धप्रियस्तोत्र नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध है। इनका समय विक्रमकी छठी शताब्दी है।

१ जै० शि० सं०, भाग १।

२. "इन्द्रश्चन्द्र. काशकृत्स्नापिशलीशाकटायना। पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिका॥"

अकलंकदेवने उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रपर तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक महान् वृत्तिग्रन्थ रचा था। और समन्तभद्रकी आप्तमीमांसापर अष्टशती नामक भाष्य रचा था जो अत्यन्त क्लिष्ट है। इनके सिवाय उन्होंने लघीयस्त्रय, न्याय-विनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह नामक दार्शनिक प्रकरण ग्रन्थ रचे थे। यह प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्तिके तथा मीमांसक कुमारिलके पश्चात् ही हुए थे। इन्हें जैन न्यायका पिता कहा जाता है।

अकलंकके ग्रन्थोंके टीकाकार विद्यानन्द, अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र हुए। विद्यानन्दने समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा और उसपर अकलंक देवके अष्टशती भाष्यको सम्बद्ध करके अष्टसहस्री नामक विद्वत्तापूर्ण दार्शनिक ग्रन्थकी रचना की, तथा उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रपर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक नामका महान् ग्रन्थ रचा। इनके आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षा नामक प्रकरण ग्रन्थ भी विद्वत्तापूर्ण है। 'विद्यानन्द महोदय' नामक ग्रन्थ अनुपलब्ध है। यह गंगनरेश शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) तथा राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) के समकालीन हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थोंमें 'सत्यवाक्याधिप'का उल्लेख किया है।

प्रभाचन्द्र धाराके राजा भोजके समकालीन थे। उन्होंने अकलंकके लघीयस्त्रयपर न्यायकुमुदचन्द्र नामक तथा माणिक्यनन्दिके परीक्षामुख नामक सूत्र ग्रन्थपर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक महान् ग्रन्थ रचे थे। इनकी अन्य भी कई रचनाएँ हैं। वैयाकरण शाकटायन अमोघवर्ष प्रथमका समकालीन था। उसने शाकटायन नामक व्याकरण रचा था और उसपर अमोघवृत्ति नामकी टीका भी रची थी। अमोघवृत्तिपर प्रभाचन्द्रकृत न्यास है। इस न्यास ग्रन्थके सिर्फ दो अध्याय उपलब्ध हैं। इन शाकटायनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था। अमोघवर्ष प्रथमके ही राज्यकालमें वीरसेन और उनके शिष्य जिनसेन हुए। वीरसेन स्वामीने भूतबली पुष्पदन्तरचित षट्खण्डागमके सूत्रोंपर धवला नामकी टीका तथा गुणधराचार्य रचित कसायपाहुडपर जयधवला नामकी टीका संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषामें रची। जयधवला टीका अधूरी छोड़कर ही वीरसेन स्वामी स्वर्गवासी हो गये। तब उनके शिष्य जिनसेन स्वामीने उसे पूर्ण किया। जिनसेनाचार्यने कालिदासके मेघदूतको वेष्टित करते हुए पार्श्वाभ्युदय नामक खण्डकाव्य रचा। मेघदूतमें जितने भी पद्य हैं और उनमें जितने भी चरण हैं वे सब एक-एक या दो दो करके इसके प्रत्येक पद्यमें ले लिये गये हैं। जिनसेन स्वामीने जैन त्रेसठशलाकापुरुषोंका चरित लिखनेकी इच्छासे महापुराणका प्रारम्भ किया था किन्तु बीचमें ही शरीरान्त हो जानेसे महापुराण अधूरा रह गया, जिसे उनके शिष्य गुणभद्रने पूरा किया।

इन वीरसेन जिनसेनके समयमे दूसरे जिनसेन हुए। उन्होने शक स० ७०५ (७८३ ई०) में हरिवश पुराणकी रचना की।

सोमदेव तो दक्षिण प्रदेशके एक अनमोल विद्वद्रत्न थे। उनकी अमरकृति यशस्तिलक चम्पू अति प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ शक स० ८८१ (९५९ ई०) में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीयके सामन्त अरिकेसरिके पुत्रके कालमें रचा गया था। इसके अन्तिम भागका नाम उपासकाध्ययन है। उसमें जैन श्रावकके आचारका वर्णन है। सोमदेवका दूसरा ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत है, जो कौटिल्यके अर्थशास्त्रकी शैलीपर रचा गया है।

ये सब प्राय प्राकृत या सस्कृत भाषाके ग्रन्थकार थे। इनके सिवाय कन्नड भाषामें रचना करनेवाले भी अनेक जैन ग्रन्थकार कर्नाटकमें हुए हैं। उनमें आदि पम्प और अभिनव पम्पके नाम उल्लेखनीय हैं।

श्री[१] नरसिंहाचार्यने अपने कर्नाटक कविचरितेमें लिखा है कि कन्नड भाषाके २८० कवियोमें सबसे अधिक सख्या ९५ जैन कवियोकी है। दूसरा नम्बर लिंगायत कवियोका है। उनकी सख्या ९० है। ब्राह्मण कवियोकी सख्या केवल ४५ है और शेष ५०में सभी सम्मिलित है।

तमिल तथा तेलगु साहित्यपर जैनोका प्रभाव न तो उतना गम्भीर था और न स्थायी जितना कर्नाटक साहित्यपर। ईसाकी प्रारम्भिक शताब्दियोसे लेकर बारहवीं शताब्दी तक जैनोने कन्नडमें साहित्य रचना की। उन सबका उल्लेख करना भी यहां शक्य नहीं है। फिर भी कुछ प्रमुख साहित्यकारोका सक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

आदिपुराण और भारतके रचयिता पम्प कविका नाम सर्वप्रथम स्मरणीय है। उसने इन दोनो ग्रन्थोकी रचनाके द्वारा भारतीय सस्कृतिकी जो सेवा की है उसका मूल्य नहीं आका जा सकता।

केवल पुरुषोने ही नहीं, किन्तु जैन स्त्रियोने भी कन्नड साहित्यको समृद्ध करनेमें योगदान किया। उनमें कन्तिका नाम उल्लेखनीय है। यह देवी होयसल नरेश लल्ला प्रथमके राजदरबारको सुशोभित करती थी तथा उसने राजदरबारमें अभिनव पम्पकी अपूर्ण कविताकी पूर्ति की थी।

कन्नडके जैन ग्रन्थकारोने केवल साहित्यिक रचनाओंसे ही कन्नड भाषाको अलकृत नहीं किया, किन्तु ऐसे विषय बहुत कम हैं जिनपर उनकी लेखनी नहीं चली। व्याकरण, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद सभीपर तो उनके ग्रन्थ उपलब्ध

१ जै० क० क०, पृ० ६०।

हैं। ईसाकी बारहवीं शताब्दीके मध्यमें नागवर्माने कन्नड व्याकरणके विषयमें काव्यावलोकन, कर्नाटक भाषा भूषण और वस्तुकोश नामके तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ रचे थे। १२६० ई० के लगभग केशीराजने शब्दमणिदर्पणको रचना की। गणित-पर राजादित्यके व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, लीलावती, व्यवहाररत्न, जैनगणित सूत्रटीकोदाहरण तथा अन्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं। पश्चिमीय चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथमके राज्यकालमें नरिगुण्डके श्रीधराचार्यने ज्योतिषपर प्रथम कन्नड ग्रन्थ जातकतिलक रचा था।

११२५ ई० के लगभग कीर्तिवर्माने पशुचिकित्सापर कन्नडमें गोवैद्य नामक ग्रन्थ रचा था। ११५० ई० में जगद्दल सामन्तने पूज्यपादके कल्याणकारकका कन्नड अनुवाद कर्नाटक कल्याण कारकके नामसे किया था। इस तरह जैनोंने कर्नाटक साहित्यको समृद्ध बनाया था।

जैन धर्मके दुर्दिन

श्री सालेतोरके मतसे तमिलके जैन विरोधी सन्तोंमें जिस प्रकारकी बदलेकी भावना पायी गयी, कर्नाटकके जैन विरोधियोंमें वैसी प्रतिहिंसाकी भावना नहीं रही। उनके मतसे कर्नाटकमें जैन धर्मके पतनके चार प्रमुख कारण हुए। प्रथम, जो राजवंश शताब्दियों तक जैन धर्मको संरक्षण देते रहे उनका पतन जैन धर्मके लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ, दसवीं शताब्दीके अन्तमें राष्ट्रकूट और गंग राजवंशोंके एक साथ होनेवाले पतनसे जैन धर्मको इतना गहरा धक्का लगा कि फिर वह सम्हल नहीं सका। दूसरे, हिन्दू धर्मके उद्धारको, विशेषरूपसे वीर शैवोंके प्रति जैनोंकी उपेक्षा भी जैन धर्मके लिए हानिकारक हुई। शैव धर्मके इस विशेष रूपका पुनरुद्धारक बसव था। उसने बारहवीं शताब्दीके मध्यमें शैव धर्मको पुनः जागृत किया और उसके अनुयायियोंने कर्नाटकके लिए वही किया जो नायनारोंने तमिल देशके लिए किया। अनेक सामन्तवंश जैन धर्मसे वीर शैवके अनुयायी बना लिये गये। बसवके उत्तराधिकारियोंने शान्तरों, चंगाल्वों, कारकलके भैरव ओडयरों, कुर्गके राजाओं तथा अन्य छोटे राज्योंके शासकोंको जैन धर्मसे वीर शैव धर्ममें दीक्षित कर लिया। इन छोटे शासकों और सामन्तोंको किस प्रकार जैन धर्मसे वीर शैव धर्ममें दीक्षित कर लिया, इसका विवरण वीर शैवोंके प्रसिद्ध गुरु एकान्त रामय्यके विवरणमें मिलता है। लगभग ११९५ ई० के एक शिलालेखमें कहा है—'शिवभक्त एकान्त रामय्य समस्त शैव तीर्थोंका दर्शन करनेके पश्चात् पुलिगेरे आया। वहाँके स्थानीय देवता सोमनाथने उसे

---

१ मि० जै०, पृ० ==१।

जैनोंके विरुद्ध धर्मयुद्ध करनेके लिए प्रेरित किया। अत' रामय्य जैनोके एक प्रमुख केन्द्र अब्बलूर नामक स्थानमें गया और उसने अपना प्रभुत्व प्रमाणित करनेके लिए जैनोको चैलेंज दिया। उसने कहा कि मैं अपने धर्मका महत्त्व प्रमाणित करनेके लिए अपनी गरदन काट दूँगा और फिर शिवके प्रभावसे मेरी गरदन जुड जायगी। यह सुनकर जैनोने वचन दिया कि यदि वह ऐसा कर सकेगा तो हम लोग शैव धर्म स्वीकार कर लेंगे। उन्होंने एक ताड़पत्रपर इसको लिख भी दिया। रामय्यने अपनी गरदन काटकर शिवको चढ़ा दी और सात दिन बाद उसकी गरदन पुनः जुड गयी। तब रामय्यने जैनोको सताया और उनकी मूर्तियाँ तोड डाली। जैनोंने राजा बिज्जल (११५६-११६७ ई०) से शिकायत की। राजाने रामय्यको बुलाया। रामय्यने वह ताडपत्र दिखलाया जिसपर जैनोने अपना वचन लिखा था। उसने पुन. जैनोको चैलेंज दिया यदि वे अपने सात सौ मन्दिरोको ध्वंस कर दें तो वह पुनः अपना सिर काटकर सात दिनमें उसे जोड सकता है।

किन्तु जैनोको उसका चैलेंज स्वीकार करनेका साहस नहीं हुआ। राजा बिज्जलने रामय्यको विजयपत्र दिया और उसके देवता सोमनाथको कई गाँव दिये। तब रामय्यकी ख्याति चालुक्य दरबारमें पहुँची और सोमेश्वर चतुर्थ (११८२-११८९ ई०) ने अब्बलूर गाँव सोमनाथको भेंट कर दिया। कदम्बराज कामदेव (११८१-१२०३ ई०) ने भी मल्लवल्लि गाँव प्रदान किया।'

जैन धर्मके पतनका चतुर्थ कारण था वीर बणजिग नामक व्यापारी वर्गका जैन धर्मसे शैव धर्ममें दीक्षित किया जाना। वीर बणजिग जाति कर्नाटकके मध्यमवर्गकी एक सबसे शक्तिशाली और समृद्ध जाति थी। उसके दानसे कर्नाटकमें जैन धर्मकी सांस्कृतिक अभ्युन्नति हुई और उसे बल मिला। जब बसवके अनुयायियोने व्यापारी वर्गको जैन धर्मसे विमुख कर दिया जो जैन धर्मका एक प्रधान आश्रय जाता रहा। और इस तरह कर्नाटकमें भी जैन धर्मके लिए दुर्दिन आ गये।



१०. विजयनगर राज्यमें जैनधर्म

विजयनगर[१] साम्राज्यकी स्थापनाके समय (१३४६ ई०) जैन धर्म तमिल, तेलगु और कर्नाटक प्रदेशोंमें अपने पूर्व स्थानसे च्युत हो चुका था और द्वितीय स्थानकी भी सुरक्षाका कोई उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता था। उसके अनुयायियोंके लिए भी यह समय बड़ा सन्दिग्ध था। क्योंकि योग्य नेताओंके अभावमें आचार्य सिंहनन्दिकी तरह परिस्थितियोंको समझकर उनका मार्गदर्शन करनेवाला कोई नहीं था। ऐसे समयमें जैन धर्मके संरक्षकके रूपमें विजयनगरने आगे कदम उठाया और आनेवाली शताब्दियोंमें उसकी लाभदायक उपस्थितिको बनाये रखनेमें योगदान किया। विजयनगर राज्य हिन्दू राज्य था, किन्तु उसकी नीति उदार थी।

विजयनगर राज्यकी स्थापनासे केवल १७ वर्ष पश्चात् १३६३ ई० में राजा हरिहररायके राज्यकालमें एक दीवानी मुकदमा पेश हुआ। राजा हरिहररायका पुत्र विरूपाक्ष ओडेयर मलेराज्यका शासक था। उसे ही उस मुकदमेका निर्णय करना था। यह मुकदमा हेद्दुरनाडमें तडताल्के प्राचीन पार्श्वनाथ मन्दिरकी जमीनकी सीमाको लेकर था। राज्यकी ओरसे जाँचका आदेश हुआ। सब मुखिया लोगोंको बुलाया गया और 'नाड' की जनताको राजी करके जमीनकी सीमा पूर्ववत् निर्धारित कर दी गयी। इस निर्णयको पाषाणपर उत्कीर्ण कर दिया गया।

पाँच वर्षोंके पश्चात् विजयनगरके राजा बुक्कराय प्रथमके सामने एक महान् प्रश्न उपस्थित हुआ। ई० १३६८ के शिलालेखमें लिखा है कि जैनों और भक्तों (वैष्णवों) के बीचमें एक झगड़ा खड़ा हुआ। जैनोंने बुक्करायसे प्रार्थना की। राजाने दोनों पक्षोंके सभी प्रमुख आचार्यों और पुरुषोंको बुलाकर इस प्रकार निर्णय दिया—'जैन धर्म पूर्ववत् पंच महाशब्द और कलशका पात्र है। यदि भक्तों (वैष्णवों) ने उसमें कुछ हानि पहुँचायी तो उसे उन्हें अपनी ही हानि समझना चाहिए। वैष्णवोंको चाहिए कि राज्यकी सब बसदियों (जैन मन्दिरों) में शासन स्थापित करें। जबतक चाँद और सूर्य चमकते हैं वैष्णवोंको जैन धर्मकी रक्षा करनी चाहिए। जैन और वैष्णव एक हैं। उनमें भेद नहीं करना चाहिए। तिरुमलेका तातय्य राज्यके समस्त जैनोंकी स्वीकृतिसे उनके द्वारा पर

---

१ मि. ई. पृ. २२३ आदि।

पीछे एक 'हण' टैक्स लगायेगा। जो वैष्णवोंके द्वारा श्रवणबेलगोलामें नियुक्त किये जानेवाले रक्षकोंके लिए होगा। जो इस आदेशको नहीं मानेगा वह राजा, समाज और सबका शत्रु माना जायेगा।'

बुक्करायका उक्त निर्णय सचमुचमें एक आदर्श राज्यके ही योग्य है। आगेके उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि विजयनगर साम्राज्यकी जनतापर उक्त निर्णयका व्यापक और स्थायी प्रभाव पड़ा।

चामराजनगर तालुकाके जोडिकेमयणपुर शिलालेख (१४०० ई०) में वीर शैव धर्मके विद्वान् एकान्त बसवेश्वरका वर्णन है। वह एकान्त रामय्यके वंशका था। उसका एक विरुद था—'अनेकान्तमतका विजेता।' किन्तु विजयनगरके जैनों और वीर शैवोंके पारस्परिक सम्बन्ध इतने अच्छे थे कि उक्त लेखके अन्तमें लिखा है कि जो इसको नष्ट करेगा वह जैन धर्मका भी द्रोही माना जायेगा।

इसके बादके अनेक शिलालेखोंमें प्रारम्भमें जिनके साथ शिवकी भी स्तुति[1] पायी जाती है। १६३८ ई० के एक लेखमें एक घटनाका विवरण इस प्रकार[2] दिया है।

हळेबीडकी पार्श्वनाथ बस्तिके स्तम्भपर हुच्चप्पदेव नामक वीर शैवने लिंग अंकित कर दिया। और विजयप्प नामक एक जैनने उसे मिटा दिया। हासनके देवप्प सेट्टीके पुत्र पद्मण्ण सेट्टी तथा वेलूर राज्यके अन्य जैनोंने वीर शैवोंके नेताओंसे इसकी शिकायत की। जिसने शिकायत की थी वह कोई मामूली आदमी नहीं था। फलत उसपर विचार करनेके लिए हळेबीड और देश भागके महामहत्तु एकत्र हुए और उन्होंने यह आदेश दिया कि बेलपत्र और विभूति चढ़ानेके पश्चात् जैन लोग अपनी रीतिके अनुसार पूजा कर सकते हैं। किन्तु वीरशैव नेताओंकी साधारण समितिके द्वारा पास किये गये उक्त आदेशको कार्यान्वित करनेके लिए राजाज्ञाकी आवश्यकता थी। अत. उन्होंने वेलूरके राजाके दाहिने हाथ मुख्य मन्त्री कृष्णप्यप्पसे प्रार्थना की। उसने तुरन्त ही कर्नाटककी प्राचीन परम्पराके अनुरूप देखकर उसपर स्वीकृति दे दी तब महामहत्तुओंने उस आदेशको शिलापर अंकित कराकर जैनोंको समर्पित कर दिया।

किन्तु उदार वीर शैव इस चालतू कारवाईसे सन्तुष्ट नहीं थे। उन्हें भय था कि भविष्यमें जैनोंके प्रति वीर शैवोंकी ओरसे कोई उत्पात हो। अत उक्त शासनादेशके नीचे इतना वाक्य बढ़ाया गया—'जो कोई इस जिन धर्मका

१ मि० जै० पृ० २९४।
२ वही, पृ० २९६।

विरोध करेगा वह अपने 'महामहत्तु' के शिष्यत्वसे बहिष्कृत कर दिया जायेगा। वह शिवका द्रोही तथा विभूति-रुद्राक्ष, लिंग तथा पवित्र तीर्थ काशी और रामेश्वरकी अविनय करनेवाला समझा जायेगा।' इसपर सब वीरशैव नेताओंने हस्ताक्षर किये। यह विजयनगरके राजाओंकी उदारताका ही प्रभाव था।

राज्यकी ओरसे जैन धर्मको सहायता

राजा बुक्कराय प्रथमने जो उत्कृष्ट उदाहरण रखा, उसका प्रभाव उनके उत्तराधिकारियोंपर भी हुआ। इसीसे हम देखते हैं कि विजयनगर राज्यके राजाओं, रानियों तथा राजवंशके पुरुषोंके द्वारा जैनमतको संरक्षण मिला। और उनमें भी रानियोंका भाग प्रमुख था। उन्होंमें-से एक रानी भीमादेवी थी, वह स्वयं जैन थी और देवराज प्रथमकी पत्नी थी। १४१० ई० के लगभग उसने श्रवणबेलगोलाके मंगायी बस्तिके लिए शान्तिनाथ भगवान्की मूर्तिका निर्माण कराया था। उक्त मन्दिरका निर्माण १३२५ ई० के लगभग बेलगोलाकी मंगायी नामकी एक राजनर्तकीने कराया था। रानी भीमादेवीके ही कारण राजा देवरायका भी जैन धर्मके प्रति अच्छा भाव था।

विजयनगरके राजाओंका जैन केन्द्र श्रवणबेलगोलाके प्रति भी बड़ा आदर भाव था। इसीसे १४२० ई० में देवराजने बेलगोलाके गोम्मटेश्वरकी पूजाके लिए एक गाँवकी आय प्रदान की थी।

जैन धर्मके प्रति दूसरा उदार राजा देवराज द्वितीय था। १४२४ ई० में उसने वराग नेमिनाथकी बस्तिको वराग नामका ग्राम प्रदान किया था। कृष्ण देवराजने चिंगलपुर जिलेके कंजीवरम् तालुकामें स्थित तिरुप्परुत्ती कुणरू ग्रामके त्रैलोक्यनाथके मन्दिरको दो गाँव प्रदान किये थे। उसी राजाने १५२८ ई० में बेल्लरी जिलेके अलूर तालुकाके चिप्पगिरि ग्रामकी बस्तिको दान दिया था और उस स्थानके वेंकटरमण मन्दिरकी दीवालोंपर उसका उल्लेख करा दिया था।

विजयनगर राज्यके सेनापतियों तथा सामन्तोंने विजयनगरमें तथा उसके बाहरमें जैन धर्मके लिए जो कुछ किया उसका वर्णन करनेसे पूर्व हम विजय-नगर राजधानीमें जैन धर्मकी जो स्थिति थी, उसको स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

जैन सेनापति इरुगप्प दण्डनायकने एक मन्दिरका निर्माण कराया था। और वीर हरिहररायकी रानीने १३९७ ई० में उसके लिए दान दिया था। एक वसदिके मण्डपमें प्राप्त एक शिलालेखमें लिखा है कि राजा देवराज द्वितीयने राजधानीमें पार्श्वनाथ चैत्यालयका निर्माण कराया था। इनके सिवाय भी राजधानीमें नगरके दक्षिणमें एक जीर्ण वसदि पायी जाती है।

विजयनगर राजधानीसे सम्बद्ध जैन इतिहासमें जैन सेनापति इरुगप्पका नाम उल्लेखनीय है। वह अपने समयका सर्वाधिक प्रमुख जैन सेनापति था। श्रवणबेलगोलाके १४२२ ई० के एक [1]शिलालेखमें इस दण्डनायकके विषयमें बहुत-सा विवरण मिलता है। इरुगप्प संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने नानार्थ-रत्नमाला नामक पद्यात्मक कोषकी रचना की थी। इरुगप्पका बड़ा भाई सेनापति बैचप भी जैन धर्मका भक्त था। श्रवणबेलगोलाके उक्त लेखमें उसे 'भव्याग्रणी' लिखा है। १४२० ई० के लगभग बैचप राजा देवराज द्वितीयका महा प्रधान था। उसने बेलगोलाके गोम्मट स्वामीकी पूजाके लिए वृत्ति प्रदान की थी।

सेनापति इरुगप्पके कुछ साथी भी जैन थे। उस समयके प्रसिद्ध जैन अधिकारियोंमें एक महाप्रधान गोप[2] चमूप थे। वह निडुगलके प्रसिद्ध पहाड़ी किलेके अधिकारी थे। एक लेखमें उन्हें जिनेन्द्र समयाम्बुधिवर्धन पूर्णचन्द्र – अर्थात् जैन समयरूपी समुद्रके वर्धनके लिए पूर्ण चन्द्रमा – लिखा है। १४०८ ई० के एक शिलालेखमें लिखा है कि गोप जैन धर्मसे निर्मल हो गया था। उसका निर्दोष चारित्र स्वर्गके लिए सीढ़ीके तुल्य था। वह गौड़ था और मूलसंघ देशिय गणके सिद्धान्ताचार्य उसके गुरु थे। गुरुके उपदेशसे वह जैन धर्मका सच्चा सेवक बन गया था। उसने कुप्पटूरमें एक जिनालयका निर्माण कराया था। तथा अन्त समयमें सब कुछ त्याग कर धर्मध्यानपूर्वक मरण किया था। उसकी दोनों पत्नियोंने भी उसीका अनुकरण किया था।

उस समयका एक प्रमुख व्यक्ति बयिनाडका स्वामी कम्पण गौड था। वह पण्डित देवका शिष्य था। १४२४ ई० में उसने बेलगोलाके गोम्मटदेवकी पूजाके लिए एक गाँव प्रदान किया था।

एक दूसरा प्रमुख व्यक्ति वल्लभराजदेव महा-अरसु था। जब चिन्नवार गोविन्द सेट्टीने १५७६ ई० में वल्लभराज देवसे प्रार्थना की कि हेग्गर बसदिके जिनेन्द्र देवके लिए अमुक भूमिका प्रबन्ध होना चाहिए तो वल्लभ राजने तुरन्त उस जिनालयके लिए भूमिदान कर दिया। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दीके अन्त तक विजयनगर राज्यके अधिकारियोंने जैन धर्मके प्रति अपनी श्रद्धाको व्यक्त किया।

सामन्तोंके द्वारा जैन धर्मका संरक्षण

विजयनगर राजधानीकी अपेक्षा उसके सामन्तोंकी राजधानियोंमें जैन धर्मकी

---

१ जै० शि० सं० भाग १, लेख नं० ८२।

२ मि० जै०, पृ० ३०८।

स्थिति विशेष महत्त्वपूर्ण थी। इसके अनेक कारण थे। प्रथम तो कर्नाटक प्रदेश-की प्राचीन राजधानियोंकी तरह विजयनगर साम्राज्यकी राजधानी राज-शक्तिका केन्द्र नहीं थी, राजाओंका ध्यान अपने साम्राज्यकी सीमाओंकी सुरक्षा-की ओर विशेष था। अत राजनैतिक आवश्यकताओंके सम्मुख, धार्मिक आवश्य-कताएँ दब गयी थीं। इसीसे जैन धर्मने भी मुख्य राजधानीकी अपेक्षा प्रान्तीय राजधानियोंमें विशेष स्थान प्राप्त किया था। दूसरे उस समय जैन धर्ममें पहले-जैसे वादी विद्वानोंकी भी कमी हो गयी थी, जो अन्य धर्मोंके विद्वानोंसे टक्कर लेनेकी क्षमता रखते हों। अत मुख्य राजधानीमें एक तरहसे जैन धर्मके कोई प्रभावशाली नेता भी नहीं थे।

दूसरे, प्रान्तीय शासकोंको राजनैतिक गुत्थियोंको सुलझाना नहीं पडता था—यह कार्य मुख्य राजधानीका था। अत वे धार्मिक और सांस्कृतिक कार्योंकी ओर विशेष ध्यान दे सकते थे। इन कारणोंसे प्रान्तीय शासकोंकी राजधानीमें जैन-धर्मका अच्छा स्थान था और शासक बराबर उसका सरक्षण करते थे।

जैन धर्मके सरक्षक इन सामन्तोंकी दो श्रेणियाँ थीं। एक श्रेणीमें कोगाल्व, चगाल्व, सगीतपुरके सालुव, गेरसोप्पेके राजा, और कारकलके भैररस ओडेयर थे। दूसरी श्रेणीमें आवलिनाड, कुप्पटूर वगैरहके महाप्रभु, तथा अन्य छोटे सामन्त थे। इन सरक्षकोंमें सामन्त घरानोंकी महिलाओंको भी सम्मिलित किया जा सकता है।

कोंगाल्वोंका जैन धर्मके प्रति आकृष्ट होना तो कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। उनके सम्बन्धमें पहले भी लिखा जा चुका है। विजयनगर साम्राज्यके समय शैव धर्म स्वीकार कर लेनेपर भी उन्होंने जैन धर्मको सरक्षण दिया। उदा-हरणके लिए १३९० ई० में एक कोगाल्व शासकने मुल्लुरमें चन्द्रनाथ बसदिका जीर्णोद्धार कराया था और उसकी रानी सुगुनी देवीने अपने अंगरक्षक विजय-देवके द्वारा चन्द्रनाथकी मूर्ति स्थापित कराकर उसकी पूजाके लिए भूदान दिया था।[1]

चगनाडके चगाल्वोंके राजवशमें वीर शैव धर्मको जो भी सफलता मिली हो किन्तु इतना स्पष्ट है कि १६वीं शताब्दी तक नजराय पट्टणमें जैन धर्मके पक्के समर्थक वर्तमान थे। उदाहरणके लिए १५०९ ई० में चगाल्व राजाके एक मन्त्री चेन बोम्मरसको, जो जैन धर्मके समर्थक और उन्नायक मन्त्रियोंके उत्तराधिकारी थे, 'जैन धर्मके पूर्ण श्रद्धालुओंका मुकुटमणि' कहा है।

[1] मि० जै०, पृ० ३१३।

चगाल्व राजाओंके इतिहासमें एक उल्लेखनीय व्यक्ति सेनापति मगरस है। मगरस सुयोग्य सेनापति होनेके साथ ही कन्नड भाषाका चतुर कवि और जैन धर्मका सरक्षक था। वह चगाल्व राजाके मन्त्री महाप्रभु विजयपालका पुत्र था। उनके माता-पिता जैन थे। कहा जाता है कि उसने अनेक स्थानोपर किलोका निर्माण कराया था तथा अनेक तालाब और जैन मन्दिर बनवाये थे। उसने एक बसदि निर्माण कराकर उसमें पार्श्वनाथ और पद्मावतीकी मूर्ति स्थापित करायी थी।

कन्नड साहित्यमें उसका ऊँचा स्थान है। उसने जयनृप काव्य, प्रभजन चरिते, श्रीपाल चरिते, नेमिजिनेश सगति तथा सम्यक्त्व कौमुदी आदिकी रचना की थी। उसने सम्यक्त्व कौमुदीकी रचना १५०९ ई० में की थी।

इसमें सन्देह नही कि जैन धर्मकी उन्नतिके लिए चगाल्व राजाओका कार्य अभिनन्दनीय है। किन्तु सगीतपुर, गेरसोप्पे और कारकलके शासकोने जैन धर्मके लिए जो कुछ किया, उसकी तुलनामें वह नहीं ठहर सकता। कर्नाटकके पश्चिमी भागमें जैन धर्मकी उन्नत दशाका श्रेय इन्ही तीनों प्रदेशोंके शासकोको है।

१५वीं शताब्दीके उत्तरार्धसे लेकर सोलहवीं शताब्दीके उत्तरार्ध तक सगीतपुरके शासक जैन धर्मके अगुआ रहे हैं। सगीतपुर तुलुव देशका एक प्रधान नगर था। १४८८ ई० में महामण्डलेश्वर सालुवेन्द्र वहांके राजा थे। वह चन्द्रप्रभजिनेन्द्रके चरण युगलके भक्त थे। उनका मन रत्नत्रयका पिटारा था। उन्होने एक उत्तुग चैत्यालयका निर्माण कराया था। उनके मन्त्रीका नाम पद्म था। १४८८ ई० में राजाने अपने मन्त्रीको एक गांव दिया और मन्त्रीने यह कह कर कि मेरे पास पर्याप्त धन है, उस गांवको जैन धर्मके लिए प्रदान कर दिया। दस वर्ष बाद मन्त्रीने पद्माकरपुर नामक नये गांवमें चैत्यालयका निर्माण कराया और उसमें पार्श्वनाथ भगवान्को विराजमान करके राज्यकी ओरसे पारितोषिकमें प्राप्त हुआ गांवका अपना भाग पूजाके लिए प्रदान कर दिया।

सालुव वशमें जैन धर्मके इतिहासकी दृष्टिसे मल्लिराय, देवराय और कृष्णदेवके नाम उल्लेखनीय हैं। १५३० ई० के एक शिलालेखमें ये तीनो नाम अकित है। सगीतपुरके ये तीनो राजा विजयनगर राज्य कालके प्रमुखवादी विद्यानन्दके सरक्षक थे। राजा मल्लिराय आदिके दरबारके विद्वानोको वादी विद्यानन्दने हराया था।

ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि उस समय जैन धर्मका कोई विरोधी नहीं था। उसका एक विरोधी श्रीशैलका प्रमुख था। वह पक्का वीर शैव था। किन्तु जैन धर्मके सहायक बहुत थे और उनके कारण विजयनगर साम्राज्यके विभिन्न भागोमें जैन धर्म को सफलता और सहयोग मिला। १४वीं शताब्दीके मध्यभागसे

लेकर सतरहवीं शताब्दीके प्रारम्भिक भाग तकके उपलब्ध शिलालेखोंमें नागरिकों तथा प्रमुख पुरुषोंके द्वारा जैन धर्मके लिए किये गये प्रयत्नोंका बहुतायतसे उल्लेख मिलता है। उनका विवरण देनेसे पूर्व उक्त राजवंशोंकी महिलाओंके द्वारा जैन धर्मके लिए किये गये प्रयत्नोंका कुछ उल्लेख किया जाता है। सोहरब वंशकी महिलाएँ कट्टर जैन थीं। उनमें ही से एक सोहरब वीर गौडकी पुत्री और तवनिधि ब्रह्मगौणकी पत्नी लक्ष्मी बोम्मक्क थी। १३७२ ई० में उसने समाधि-पूर्वक मरण किया। एक[1] शिलालेखमें उसके उदार कार्योंका विवरण अंकित है।

१६वीं शताब्दीके मध्यमें एक महिला काललदेवी हुई जो कारकलके राजा भैरासकी छोटी बहन थी। १५३० ई० में उसने अपने शासित प्रदेशमें जैन धर्मको स्थायी रखनेके लिए विशेष नियम बनाये। कल्लवस्तिके पार्श्वनाथ देव काललदेवीके वंशगत देव थे। अपनी पुत्री रमादेवीकी मृत्युके समय काललदेवीने अपने वंशगत जिनेन्द्र देवकी पूजा आदिके लिए दान दिया था और उसे शिला-लेखमें आदेशके रूपमें अंकित करा दिया था।

विजयनगरमें जैन[2] धर्मकी स्थिति

विजयनगर राज्यके विभिन्न नगरोंमें जैन धर्मका जैसा प्रभाव था वैसा प्रभाव न तो उसकी मुख्य राजधानीमें था और न प्रान्तीय शासकोंकी राज-धानियोंमें था। नागरिकोंने जैन धर्मको वह सब साहाय्य दिया जो वे दे सकते थे। यदि हम बेलगोला, कल्लेह, होसपट्टण, हरवे, मलेयूर, हुणसूर, आवडी, सोहराब, हिरे चोटी, कुप्पटूर, उद्धरे, हुलीगेरे, रायदुर्ग और दानवुलपाडुमें जैन धर्मके इतिहासकी खोज करें तो हम पायेंगे कि चौदहवीं शताब्दीमें भी जैन धर्मकी वही दृढ़ स्थिति थी जो पूर्वकाल में थी।

श्रवणबेलगोला सर्वोत्कृष्ट तीर्थस्थान माना जाता था और दूर दूरसे यात्री उसकी यात्राके लिए आते थे। उसके शिलालेखोंसे ये सब बातें ज्ञात हो सकती हैं। कल्लेह भी जैन धर्मका प्रधान केन्द्र था। राजा बुक्करायके समयमें जैनों और वैष्णवोंमें जो खींचतान हुई थी उसके प्रसंगसे इसका विवरण पीछे आ चुका है।

होसपट्टण विजयनगर साम्राज्यकी एक राजधानी थी। यह नगर भी जैन धर्मका एक प्रसिद्ध केन्द्र था। चामराजनगर विजयनगर राज्य कालीन कुछ उल्लेखनीय नगरोंमेंसे था। यहाँ एक पार्श्वनाथ बस्ति थी। इस बस्तिको १५१७

---

1 मि० जै० पृ० ३२०।

2 मि० जै०, पृ० ३२२

ई० में अरिकुठारके महाप्रभु वीरप्प नायकने दान दिया था।

हरवेमें भी आदि परमेश्वरका चैत्यालय था। इसे १४८२ ई० में महामण्डलेश्वर सोमेराय ओडेयरके अर्थाधिकारी देवासने बनवाया था। उसे उसके स्वामी सोमेरायने उसकी पूजा आदिके लिए दान दिया था। उसके पुत्र नन्जेराज ओडेयरने हरवेमे जमीन खरीदकर उसे मन्दिरके लिए प्रदान किया था। अन्य भी अनेक व्यक्तियोके द्वारा उसके निमित्तसे दान देनेका उल्लेख मिलता है। उक्त तालुकामें मलेयूर भी जैन धर्मका केन्द्र था। यहाँकी कनकगिरि पहाडीपर विजयनाथ (?) और चन्द्रप्रभकी बस्तियाँ थी। कनकगिरिपर दूर दूरसे यात्री आते थे। उनमें-से एक कोपणके चन्द्रकीर्तिदेव भी थे। वह सेनापति कूचीराजके गुरु थे। उन्होने १४०० ई० में कनकगिरिपर चन्द्रप्रभकी प्रतिमा स्थापित करायी थी।

कनकगिरिके मन्दिरको सम्राट् देवराय प्रथमके पुत्र युवराज हरिहररायने मलेयूर नामका गाँव प्रदान किया था। यह गाँव विजयनाथकी पूजाके लिए दिया गया था। विजयनाथकी स्थापना एक जैनने १३५५ ई० में की थी। कनकगिरि बहुत समय तक जैन धर्मका पूज्य स्थान बना रहा। क्योंकि १८१३ ई० में देशिगणके भट्टारक अकलङ्कका वहाँ स्वर्गवास हुआ था।

जैन धर्मका एक प्रसिद्ध केन्द्र [1]आवलिनाड था। चौदहवी शताब्दीके मध्यसे लेकर १५वीं शताब्दोके प्रथम चरण तक यहाँके स्त्री-पुरुषोका उत्साह बहुत बढा-चढ़ा था। यहांकी एक विशेषता यह है कि यहाँ प्राप्त अधिकाश लेख स्मारक पाषाणोपर उत्कीर्ण हैं। उदाहरणके लिए – १३५३ ई० में रायचन्द्र मलधारि देवके शिष्य काम गौडने पच नमस्कार मन्त्र पूर्वक प्राण त्याग किया। उसकी स्मृतिमें जनताने निषिधिका निर्माण कराया आदि। इस तरहके स्मारक लेख यहाँ अनेक हैं। यहांके महाप्रभुके भी इसी प्रकार पच नमस्कारपूर्वक प्राण त्यागनेका स्मारक लेख है। अत आवलिनाडकी जनता तथा राजा, इस विषयमें जैन गुरुओके उपदेशका पालन करते थे, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। आविलनाडके महाप्रभुओकी जैन धर्मके प्रति प्रदर्शित की गयी इस दृढ आस्थाने धार्मिक उत्साहको इतना बढा दिया था जो उस समयमें अन्यत्र क्वचित् न ही देखनेमें मिल सकता है।

आविलनाडकी तरह कुप्पटूर, उद्दरे, और हुलिगेरे भी जैन धर्मके प्रमुख केन्द्र थे। १४०२ ई० में कुप्पटूर एक प्रसिद्ध स्थान था। तथा समस्त नागर

---

१ मि० जै०, पृ० ३३१।

खण्डमें उत्तम स्थान था। यहाँ एक जैन चैत्यालय था जिसे कदम्बोंकी ओरसे दान पत्र प्राप्त हुआ था। १४०८ ई० के एक शिलालेखमें[1] कुप्पटूरकी बडी प्रशंसा की गयी है। उसे जैनोंका गौरव लिखा है और लिखा है कि जैनोंने उसे सुन्दर नगरके रूपमें परिवर्तित कर दिया था।

सोहराब तालुकामें जैन धर्मके अन्य भी केन्द्र थे। उनमें से एक तवनिधि था। यहाँ शान्तिनाथ तीर्थंकरकी प्रसिद्ध बसदि थी। १३७२ ई० में तवनिधिमे माम(आ)दि गौडका पुत्र तथा माधवचन्द्र मलधारिदेवके शिष्य बोम्मणने समाधि-पूर्वक प्राण त्याग किया था।

सोहराब तालुकाका उद्धरे (वर्तमानमें उदरि) नामक महान् नगर भी होयसलोंके समयसे ही जैनोंका स्थान था। राजा हरिहरराय द्वितीयके राज्य-कालमें यहाँ जैन नेता बैचप रहता था। १३८० ई० के शिलालेखमें लिखा है कि बनवासे १२००० प्रान्तके शासक माधवरायको कठिनाईका सामना करना पडा। कुछ कोंकणी उनके विरुद्ध हो गये। राजसेना तथा विद्रोहियोंके बीचमें युद्ध हुआ। बैचप बहुत से कोंकणियोंको मारकर स्वयं भी स्वर्गवासी हुए। नागरिकोंने उनके स्मारकपर लिखा—'अन्त समय तक स्वामीकी सेवा करते हुए तथा शत्रुकी सेनाको पीछे धकेलकर बैचप जिनचरणोंके अनुरागी बन गये।'

बैचपका पुत्र सिरियण्ण भी जैन धर्मका भक्त था। यदि पिताने राजसेवामें प्राण त्याग किया तो पुत्रने जिनधर्मके लिए अपने प्राणोंका त्याग करनेकी भावना भायी। १४०० ई० के शिलालेखमें लिखा है कि पुष्पोंकी वर्षा, भेरी, दुन्दुभि और मृदंगकी ध्वनि तथा गीतोंके स्वरके मध्यमें साधु सिरियण्णने जिन-चरणोंका आश्रय लिया। बेल्लरी और चुट्टपह जिलेके रायदुर्ग और दानवुलपाडु भी जैन धर्मके केन्द्र थे।

पन्द्रहवीं शताब्दीमें जैन धर्मके प्रसारके इतिहाससे यह प्रमाणित होता है कि कर्नाटकमें जैन धर्मकी लोकप्रियता चालू थी। इस समयमें मत्तावर, बन-वास, गेरसोप्पे, मारगी, मूडबिद्री, कोल्लापुर, बन्दनिके, पावगुड और मेलकोटे जैसे प्रसिद्ध नगर जैन धर्मके केन्द्रके रूपमें आगे आये। और उन्होंने जैन धर्मके इतिहासमें अच्छा योगदान किया।

कडूर जिलेके चिक्क मगलूर तालुकाके मत्तावर स्थानकी पार्श्वनाथ बसदि-को होयसल नरेश विनयादित्यके समयमें प्रमुखता मिली और उसने पन्द्रहवीं शताब्दीके प्रारम्भ तक जैनोंको बराबर आकृष्ट किया। १४०० ई० के लगभग मत्तावरकी प्रसिद्धि और अधिक फैल गयी, क्योंकि पार्श्वनाथ बसदिमें एक साध्वीने

[1] जि० ई०, पृ० ३३८।

तपस्या करके प्राण त्याग किया था। बनवास शहर बलात्कार गणकी एक शाखाका केन्द्र था।

गेरुसोप्पेका नाम जैनससारमें फैलानेका श्रेय उसके शासको और नागरिको-को है। १४वीं शताब्दीके मध्यमें धनिक नागरिकोके कार्योंसे गेरुसोप्पेका नाम विशेष प्रसिद्ध हुआ। गेरुसोप्पेसे प्राप्त एक त्रुटित शिलालेखमें कुछ नागरिकोका नाम दिया है। उनमें-से एक होन्नपसेटी है। उसने गेरुसोप्पेके वर्धमान मन्दिरको दान दिया था।

एक योजन सेट्टी थे। उनकी पत्नी रामक्कने गेरुसोप्पेमें अनन्त तीर्थ चैत्या-लयका निर्माण कराया था। एक शिलालेखमें उसके गुणोकी बड़ी प्रशसा की गयी है। शान्तल देवी बोमण्ण सेट्टीकी पुत्री और हरिवण्णरसकी रानी थी। वह बडी धार्मिक थी। १४०५ ई० के लगभग उसने समाधिपूर्वक मरण किया।

गोवर्धन गिरिसे प्राप्त १५६० ई० के एक शिलालेखमें गेरुसोप्पेके प्रस्तुत व्यापारियोके सम्बन्धमें बहुत-सा विवरण दिया है।

योजन सेट्टीने गेरुसोप्पेमें अनन्तनाथ चैत्यालयके सिवाय दुमजिला नेमीश्वर चैत्यालय और गुम्मटनाथ चैत्यालय भी बनवाये थे। अम्बवन सेट्टीकी पत्नी देवरसि थी। एक दिन वे दोनों नेमिजिन चैत्यालयमें गये और वहाँ अभिनव समन्तभद्रसे उन्होने धर्मश्रवण किया। उस समय उन्होंने अपने पितामह योजन-सेट्टीके द्वारा बनवाये हुए नेमीश्वर चैत्यालयके सामने एक मानस्तम्भ बनवानेका विचार किया। घर जाकर अपने दोनों भाइयो तथा सम्बन्धियोसे स्वीकृति ली तब राजा देवरायसे निवेदन किया। राजा और सघकी स्वीकृति मिलने पर उन्होंने मानस्तम्भका निर्माण कराया।

इस विवरणसे उस समयमें धर्मस्थानोके निर्माण करानेकी पद्धतिपर प्रकाश पडता है।

सोलहवी शताब्दीके मध्यमें गेरुसोपेका जैन व्यापारीवर्ग बड़ा प्रभावशाली था। यह श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोसे भी प्रमाणित होता है। श्रवणबेलगोला-में उनके द्वारा किये गये विविध दानोका उल्लेख मिलता है। गेरुसोप्पेके जैनगुरु भी बडे प्रभावशाली थे और धनसम्पन्न भी थे। वीरसेन देवने बहुत सी भूमि खरीदी थी।

मूडबिद्रीका स्थान उक्त जैन केन्द्रोसे भी महान् है। १३वीं शताब्दीमें वहाँ पार्श्वनाथ बसदि थी। उसे तुलुव देशके राजाने दान दिया था। विजयनगर साम्राज्यके समयमें १५वीं शताब्दीमे उसे बहुत ख्याति मिली। एक शिलालेखमें उसका नाम वेणुपुर लिखा है।

आज कल मूडबिद्रीमें जैन आबादी घटतीकी ओर है तथापि जैनोंमें उसकी प्रतिष्ठा पूर्ववत् है। वहाँ १८ वसदियाँ हैं। उनमें गुरुवसदि विशेष प्रसिद्ध है। इसी वसदिमें सिद्धान्तग्रन्थ धवला, जयधवला और महाबन्धकी ताड़पत्रकी प्रतियाँ सुरक्षित हैं। इससे इसे सिद्धान्त वसदि भी कहते हैं। त्रिभुवनतिलक चूडामणि वसदि अपने एक हजार स्तम्भोंके कारण, आज भी दर्शकोंको विशेष आकृष्ट करती है।

मेलूकोटे किसी समय जैन धर्मका प्रमुख स्थान था। यहीं वैष्णव सन्त रामानुजाचार्य रहते थे। १४७१ ई०के एक लेखमें इसे पृथ्वीका वैकुण्ठ तथा वर्धमानक्षेत्र लिखा है। वर्धमानक्षेत्रसे प्रमाणित होता है कि एक समय यह जैन क्षेत्र था किन्तु जैन धर्मका पतन होनेपर हिन्दुओंके अधिकारमें चला गया।

१६वीं शताब्दीमें क्या दक्षिण भारत और क्या उत्तर भारत कहीं भी जैन धर्मका प्रभाव बढ़ता हुआ प्रतीत नहीं होता। शैव धर्म और खास तौरसे वैष्णव धर्मने ऐसा प्रभुत्व जमा लिया था कि विजयनगर साम्राज्यमें जैन धर्मका पुनरुद्धार हो सकना असम्भव था। तथापि इस शताब्दीमें एक ओर जहाँ हिन्दू धर्मके कट्टर पक्षपाती कृष्णदेव रायका जन्म हुआ, वहीं दूसरी ओर जैनोंके नेता वादि विद्यानन्दका भी जन्म हुआ।

सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें तीन जैन केन्द्र बराबर बने हुए थे—कोपण, नरसिंह राजपुर और शृंगेरी। कोपलके सम्बन्धमें पहले लिख आये हैं। उस समय भी वह व्यापारका प्रमुख केन्द्र था क्योंकि १५३६ ई०में यहाँके तीन व्यापारी सेट्ठी श्रवणबेलगोला गये थे।

शेष दोनोंमें-से नरसिंह राजपुरकी अपेक्षा शृंगेरी विशेष प्राचीन जैन केन्द्र था ऐसा वहाँकी शान्तिनाथ वसदिकी शान्तिनाथकी मूर्तिके शिलालेखसे (१३०० ई०) ज्ञात होता है। यहाँ चन्द्रनाथ वसदि और पार्श्वनाथ वसदि भी है। यह शंकराचार्यके अद्वैतवादका केन्द्र रहा है। अद्वैतवादके इस केन्द्रमें जैन वसदियोंका होना बतलाता है कि यहाँ पहले जैन धर्मका अच्छा प्रभाव रहा है। १६वीं शताब्दीके प्रारम्भमें भी यहाँ जैन यात्री वन्दनाके लिए आते थे। क्योंकि १५२३ ई०में दो सेट्ठियोंने यहाँके जिनालयोंमें जिनबिम्ब विराजमान किये थे।

संगीतपुर, मूडबिद्री और गेरसोप्पे-जैसे प्रमुख नगरोंकी तरह तुलुवदेशमें जैनोंके बहुत-से छोटे-छोटे स्थान भी थे। यथा—बारकुरु, मूल्कि, हट्टि अगदि कापू आदि। इन सभी स्थानोंमें जैन वसदियाँ थीं, और उनमें से अनेकको राजा तथा सेठोंकी ओरसे भूमि वगैरह प्रदान की गयी थीं।

तुलुवदेशमें मूडबिद्रीके बाद दूसरा प्रमुख जैन केन्द्र कारकल था। चौदहवीं शताब्दीमें शान्तरोंने कारकलमें अपनी राजधानी स्थापित की थी। उसके राजा लोकनाथरसने जैन धर्मको फैलानेमें विशेष भाग लिया था। उसके राज्यकालमें (१३३४ ई०) उसकी दो बडी बहनोंने राज्याधिकारियोंके साथ कारकलके शान्तिनाथ मन्दिरको भूमिदान किया था। इस मन्दिरका निर्माण मूलसघ, काणूरगणके भानुकीर्ति मलधारीदेवके शिष्य कुमुदचन्द्रभट्टारकने कराया था।

कुछ समयके पश्चात् कारकलके शासक लिंगायतोंके प्रभावमें आ गये। किन्तु उन्होंने जैन धर्मका समर्थन नहीं छोडा। हनसोगेके भट्टारक ललितकीर्ति मलधारीदेवकी प्रेरणासे भैरवेन्द्रके पुत्र राजा वीरपाण्डचने १४३२ ई०में कारकल-में गोम्मट स्वामीकी उत्तुंग मूर्तिका निर्माण कराया था। तथा उन्ही भट्टारककी प्रेरणासे १४७५-७६ ई०में तीर्थंकर वसदिके सामने मुखमण्डप बनाया गया था।

कारकलकी महत्ताके निर्माणमें केवल उसके राजाओंका ही हाथ नहीं है किन्तु वहांके नागरिकोंकी उदारताको भी उसका श्रेय है। कारकलकी प्रसिद्ध चतुर्मुख वसदिका निर्माण इम्मडि भैरवेन्द्र ओडेयरने १५८६ ई०में कराया था।

कारकल तालुकाके वेणुर नामक स्थानमें बेलगोलाके चारुकीर्ति पण्डितके उपदेशसे १६०४ ई०मे एक शासकके भाई तिम्मराजने गोम्मटकी मूर्ति स्थापित करायी थी। १७वीं शताब्दीमें विजयनगर साम्राज्यकी स्थिति भी क्षीण हो रही थी और जैन धर्मको दृष्टिसे भी वह समय उपयुक्त नहीं था। फिर भी तुलुवदेशमें जैन धर्मकी जड बहुत गहरी थी और उसीका परिणाम उक्त मूर्तिका निर्माण है यह कहना होगा।

वेलूरमें हिन्दुओंके कलापूर्ण मन्दिर हैं इसीसे वह भारतीय स्थापत्यकलाके इतिहासमें अपना विशेष स्थान रखता है। यह कब जैन धर्मका केन्द्र बना यह अज्ञात है किन्तु १४वीं शताब्दीके प्रारम्भसे १७वीके मध्य तक वेलूर जैन धर्मका आकर्षण केन्द्र अवश्य रहा है। यहाँ पार्श्वनाथ, आदिनाथ और नेमिनाथकी वसदियाँ हैं। वेलूरके वेंकटाद्रिके राज्यकालमें जैनों और लिंगायतोंम विवाद खडा हो गया था। १६३८ ई०में वह विवाद जिस प्रशसनीय ढगसे निबट सका उससे ज्ञात होता है कि वेलूरके जैन सेट्टी कितने प्रभावशाली थे?

विजयनगर साम्राज्यको जैनोंकी देन

विजयनगर साम्राज्यसे पूर्व कला और सस्कृतिको जैनोंकी देनका सक्षिप्त विवरण पहले दिया गया है। दक्षिणके दिगम्बर जैनोंने गृह निर्माणकी कलामें कुछ विशेषताका नयोजन वसदियों और मूर्तियोंके द्वारा किया। वसदिका सस्कृत

रूप 'वसति' है। वसति उस मन्दिरको कहते हैं जिसमें चौबीस तीर्थंकरोंमें-से किसी एक तीर्थंकरकी मूर्ति विराजमान होती है। जैन वसतियाँ और मूर्तियाँ भारतीय स्थापत्य कलामें प्रसिद्ध हैं। जैनोंने श्रवणबेलगोला, कारकल और वेणूरमें बाहुबलीकी विशाल मूर्तियोंका निर्माण कराया। इन मूर्तियोंमें कुछ अपनी विशेषताएँ है – वे बिलकुल नग्न हैं, उत्तराभिमुख हैं, माधवी लताके द्वारा उनके पैर और हाथ वेष्टित हैं। वे एक आदर्श साधुकी प्रतिकृति हैं जो ध्यानमें मग्न हैं और पृथ्वीसे उगी लताओंने जिसके शरीरको अपने आलिंगन-पाशमें बद्ध कर लिया है। उसे गोम्मटेश्वर कहते हैं।

विजयनगर कालमें बनी मूडबिद्रीकी वसतियाँ ध्यान देनेके योग्य हैं। हिन्दू मन्दिरोंकी अपेक्षा इनकी रचनामें बहुत सादगी है। उनके देखनेसे लगता है कि प्राचीन वसतियाँ लकड़ीकी बनायी जाती थीं। फिर भी उस सादगीमें जो आकर्षण है उसका चित्रण करते हुए फर्गूसनने ठीक ही लिखा है कि 'जिस विविधता और सुन्दरतासे मूडबिद्रीके मन्दिर खचित हैं उससे अधिक कोई कर नहीं सकता। उनकी सजावट सर्वथा ऐच्छिक है और रचना तथा सुन्दरतामें एक स्तम्भ दूसरेसे मेल नहीं रखता।

जैन स्थापत्य कलाकी दूसरी विशेषता वे स्तम्भ हैं जो वसतियोंमें पाये जाते हैं। वे दो प्रकारके होते हैं—एक ब्रह्मस्तम्भ और एक मानस्तम्भ। मूडबिद्रीके ब्रह्मस्तम्भ और गुरुवायिनकेरे तथा हलेनगडिके मानस्तम्भ दर्शनीय हैं। तीसरी विशेषता गुरुओंकी समाधियाँ है जो मूडबिद्रीके पासमें पायी जाती हैं। कुछ समाधियाँ तीनसे पाँच या सात मंजिल ऊँची हैं। इस तरहकी समाधियाँ भारतमें अन्यत्र नहीं पायी जाती हैं।

मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य कलाको यह जैनोंकी अनुपम देन है। अब हम साहित्यकी ओर आते हैं।

इसमें तो सन्देह नहीं कि विजयनगर साम्राज्यके कालमें भी जो जैन धर्म बराबर प्रचलित रहा, इसका बहुत कुछ श्रेय जैन गुरुओंको है। ऐसे भी जैन गुरु हुए हैं जिन्होंने दिल्लीके बादशाहोंके दरबारमें भी जैन धर्मका नाम फैलाया था। पद्मावती[1] वसतिके शिलालेखमें उन गुरुओंका विवरण दिया हुआ है।

उनके नाम सिंहकीर्ति, विशालकीर्ति और वादि विद्यानन्द थे। सिंहकीर्तिने सुलतान मुहम्मद (तुगलक) के दरबारमें बौद्धोंको पराजित किया। सिंहकीर्तिके उत्तराधिकारी विशालकीर्तिने सिकन्दर सुरित्राणसे सम्मान प्राप्त किया। विशाल-

१ मि० जै० पृ० ३७०।

कीर्तिके शिष्य वादि विद्यानन्दकी बडी प्रशसा की गयी है। उनके अनेक कार्य उल्लेखनीय हैं। उन्होने राजदरबारोमें सम्मान प्राप्त किया था। श्रीरगपट्टम्में उन्होने एक पादरीको पराजित किया था।

जैनाचार्योंने कन्नड साहित्यको जो कुछ दिया उसका सक्षिप्त उल्लेख पहले किया गया है। विजयनगर साम्राज्यकालमें भी उनको यह प्रवृत्ति बराबर जारी रही।

बाहुबलि पण्डितने १३५२ ई० में धर्मनाथ पुराण रचा। १३५९ ई० में केशव वर्णीने गोम्मटसारपर कर्णाटक वृत्तिकी रचना की। तथा अमितगति श्रावकाचार और सारत्रयपर भी टीकाएँ रचीं। १३६५ ई० में अभिनव श्रुतमुनिने मल्लिषेणके सज्जनचित्तवल्लभपर कन्नड टीका लिखी।

चौदहवीं शतीके अन्तमें आयतवर्माने कन्नडमें रत्नकरण्डकी रचना की। इसी समय चन्द्रकीर्तिने परमागमसार रचा।

१४२४ ई० में भास्करने जीवन्धर चरितकी रचना की। उसने लिखा है कि मैंने वादीभसिंह रचित सस्कृत ग्रन्थका कन्नडमें अनुवाद किया है। उसके १५ वर्ष पश्चात् कल्याणकीर्तिने ज्ञानचन्द्राभ्युदय, कामनकथे, अनुप्रेक्षा, जिनस्तुति और तत्त्वभेदाष्टकको रचना की। उसने लिखा है कि मैंने शक १३६२ (१४३९ ई०) में राजा पाण्डय रायकी प्रेरणासे ज्ञानचन्द्राभ्युदय और कामनकथेकी रचना की। यह पाण्डय राय वही है जिसने कारकलमें गोम्मटकी मूर्ति स्थापित करायी थी।

१४४४ ई० में जिनदेवण्णने श्रेणिक चरित तथा विजयण्णने द्वादशानुप्रेक्षाकी रचना की। उनके समकालीन विद्यानन्दने अपने प्रायश्चित्त नामक ग्रन्थपर कन्नडमें टीका रची। विद्यानन्द ब्रह्मसूरि उपनाम बोमरसका शिष्य था। बोम्मरसके दूसरे शिष्यने सनत्कुमार चरित और जीवन्धर चरिते (१४८५ ई०) की रचना की। १५०० ई० के लगभग कोटीश्वरने जीवन्धर षट्पदीकी रचना की और यश कीर्तिने धर्मशर्माभ्युदयपर टीका लिखी।

कन्नड साहित्यकी दृष्टिसे साल्व और दोड्डय्यके नाम भी उल्लेखनीय हैं। साल्वने भारत, शारदा विलास और नेमीश्वर चरितेकी रचना की और दोड्डय्यने चन्द्रप्रभ चरितेकी रचना की।

वेणुपुर (मूडबिद्री) के रत्नाकर वर्णिने दस हजार पद्योमे त्रिलोक शतककी रचना की। उसकी अन्य रचनाएँ भरतेश्वर चरिते और पदजाति हैं। पदजातिकी रचनाने उसे कन्नड साहित्यमें प्रसिद्ध कर दिया। मूडबिद्रीका दूसरा प्रमुख लेखक नेमण्ण था। उसने १५५९ ई० में ज्ञानभास्कर चरितेकी रचना की।

वाहुवलिने १५६० ई० में नागकुमार चरितेकी रचना की। १६वीं शताब्दी-के अन्तिम चरणमें अनेक जैन ग्रन्थकार हुए। उनमें-से श्रुतिकीर्तिने विजय-कुमारी चरितेकी और दोड्डणाकने चन्द्रप्रम पट्पदीकी रचना की।

पद्मरसने शक सवत् १५२१ (ई० १५९९) में केल्सूरु उपनाम छत्रत्रयपुर-चन्द्रनाथ वसदिमें शृंगार कथेकी रचना की। पद्मरस भट्टाकलंकका शिष्य था और जैन शास्त्रोंका पण्डित था। उसने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें शिव, पार्वती और गणेशकी स्तुति की है। यह विजयनगर साम्राज्यकी उदार नीतिका ही प्रभाव प्रतीत होता है।

सतरहवीं शताब्दीके पूर्वार्धके जैन ग्रन्थकारोंमें पचवाणका नाम उल्लेखनीय है। वह श्रवणवेल्गोलाका निवासी था। उसने अपने भुजवलि चरिते (१६१४ ई०) में लिखा है कि गोम्मटस्वामीका प्रसिद्ध मस्तकाभिषेक १६१२ ई० में हुआ था। तथा कारकलकी गोम्मटमूर्तिका प्रसिद्ध मस्तकाभिषेक १६१४ ई० कारकलके राजा इम्मडी भैरवेन्द्रने कराया था। यह बात चन्द्रमाके कारकल गोम्मटेश्वर चरितेमें लिखी है। देवरस (१६५०) ने अपने गुरुदत्त चरितेमें लिखा है कि कर्नाटकके पुगताटक कस्वेके निकटमें एक पहाडीपर पार्श्वजिनकी वस्ती थी। पूज्यपाद स्वामीने इसी पहाडीपर अपने सिद्धरसकी परीक्षा की थी।

जैनोंने केवल धर्म और साहित्यको ही अपनी रचनाका विषय नहीं वनाया, किन्तु औषधि विज्ञानपर भी ग्रन्थोंकी रचना की। प्रारम्भिक विजयनगर काल-के जैन लेखक मंगराज प्रथम (१३६० ई०) ने 'खगेन्द्रमणिदर्पण' नामक ग्रन्थकी रचना की। उसमें विषोंका वर्णन है। श्रीधरदेव (१५०० ई०) ने वैद्यामृतकी रचना की। वाचरसने अश्ववैद्य (१५०० ई०) की रचना की। उसमें अश्वचिकित्साका वर्णन है। पद्मरसने १५२७ ई० में 'हयसार समुच्चय' की रचना की। इसमें भी अश्वसम्बन्धी औषधियोंका वर्णन है।

इस प्रकार विजयनगर साम्राज्यकालमें जैनोंने अपनी रचनाओंसे कन्नड साहित्यको समृद्ध किया।

■

११. जैनधर्मके धार्मिक और सामाजिक रूपमें परिवर्तन

दक्षिणमें प्रवेशके समय जैन धर्मका जो रूप था, दक्षिणकी धार्मिक स्थिति-के कारण उस रूपमें अनेक दृष्टियोसे बहुत परिवर्तन हो गया। इस अध्यायमें हम विशेषरूपसे दक्षिणकी स्थितिके साथ उसके अन्तरको दृष्टिमें रखकर विचार करेंगे।

सबसे प्रथम यह विचारणीय है कि बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्मके साथ स्पर्धा-में आनेसे पूर्व जैन धर्मका रूप क्या था। यद्यपि जैन धर्मको नास्तिक कहा जाता है किन्तु वह आत्मा, परलोक, कर्मफलवाद तथा मोक्षको मानता है। जैन धर्मके अनुयायियोका सामाजिक जीवन बहुत सुव्यवस्थित रहा है और वे कठोर धार्मिक अनुशासनके पालक रहे है।

जैन धर्म ईश्वरको इस विश्वका कर्ता हर्ता नहीं मानता, इसीसे उसे ईश्वर-वादी नास्तिक कहते हैं। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि जैन धर्म चार्वाक-की तरह केवल भौतिकतावादी है। वह आत्माके शाश्वत अस्तित्वमें दृढ आस्था रखता है और शाश्वत सुख और शान्तिके लिए जीवनके सम्पूर्ण सदाचारपर जोर देता है। कुन्दकुन्द रचित प्रवचनसारमें जो दक्षिण भारतके जैन ग्रन्थोमें प्राचीन-तम माना जाता है। लिखा है—

"एवं कत्ता भोत्ता होज्ज अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडदि पारमपारं ससारं मोहसछण्णो ॥६९॥

अपने ही अज्ञान भावके द्वारा किये हुए कर्मोके उदयसे आत्मा इस प्रकार कर्ता और भोक्ता होता हुआ मोहसे आच्छादित होकर इस ससारमें भ्रमण करता है जो ससार किसीके लिए सान्त है और किसीके लिए अनन्त है।

उवसतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ॥७०॥

जिसका मोहनीय कर्म उपशान्त भावको प्राप्त हुआ है या क्षयको प्राप्त हुआ है, जो सर्वज्ञ प्रणीत आगमके द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्गको प्राप्त हुआ है और ज्ञानानुसारी मार्गपर चलता है वह धीर पुरुष मोक्षनगरको जाता है।"

कर्मवादके सिद्धान्तको ब्राह्मणधर्म भी मानता है किन्तु उनका सिद्धान्त अधिकतर सदाचारविषयक प्रवृत्तिकी अपेक्षा यज्ञादि क्रियाकाण्डके करने या न करनेपर निर्भर था। उसके विपरीत जैन धर्म नैतिक सदाचारपर विशेष जोर देता था। और यह सदाचार केवल मनुष्यो तक ही सीमित नही था, किन्तु पशु पक्षीसे लेकर क्षुद्रजन्तु तक उससे बँधे हुए थे। कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—

"जीवो त्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥२७॥
कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढ लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥२८॥"

जीव चेतन है, उपयोग—जानने देखने रूप परिणामोसे विशिष्ट है, अपने कर्मादिका स्वय स्वामी है, कर्ता और भोक्ता है, शरीरके बराबर परिणामवाला है, अमूर्तिक होनेपर भी कर्मबन्धनसे सयुक्त है। कर्मरूपी मलसे मुक्त होनेपर वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर ऊपर लोकके अन्त तक जाता है और अनन्त अतीन्द्रिय सुखको प्राप्त होता है।

अतः सब जीव समान हैं और वे कर्तृत्व-भोक्तृत्वके अविचल नियमसे बद्ध हैं। जैन सिद्धान्तके अनुसार जीवका निवास केवल मानव शरीरोमें ही नहीं है किन्तु सभी प्रकारके प्राणियोमें, जिनमें वृक्षादि भी हैं, जीवका वास है। जैकोबीके लेखानुसार भी यह सिद्धान्त जैन धर्मकी प्रमुख विशेषता है जो उसके समस्त आचार और विचारमें व्याप्त है। किन्तु पाषाण, वृक्ष और बहते हुए जलमें चेतनका अस्तित्व माननेवाले ब्रह्मवादसे जैनोका उक्त सिद्धान्त सर्वथा भिन्न है। तथा ब्राह्मण धर्मके अनुसार पशुओका यज्ञमें बलिदान करके देवताओको प्रसन्न किया जा सकता है। किन्तु जैन धर्मके अनुसार जीव अपनी प्रत्येक दशामें अवध्य है और किसी भी प्रकारके उपद्रवके द्वारा उसे अशान्ति पहुँचाना अनुचित है। यही जैनोका अहिंसा सिद्धान्त है। सोमदेवने अपने यशस्तिलक चम्पूमें एक कथाके द्वारा इस सिद्धान्तपर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है।

राजा यशोधर अपनी माताके अत्यन्त आग्रहसे जीवित पशुके बदलेमें आटेसे बनाये गये पशुका बलिदान करता है। और उसके फलस्वरूप दोनो माता पुत्रको अनेक जन्मोमें भीषण कष्ट उठाना पडता है। इस तरह उक्त कथाके द्वारा जैनोके कर्मसिद्धान्तके साथ अहिंसा सिद्धान्तपर भी बहुत जोर दिया गया है। जैनोको अपने इस सिद्धान्तके प्रचारमें काफी सफलता मिली और ब्राह्मण धर्म भी उससे प्रभावित हुआ। तमिलवेद तिरुकुरलके रचयिता तिरुवल्लुवरने लिखा है—'लाखो यज्ञ करनेकी अपेक्षा प्राणियोको मारकर न खाना उत्तम यज्ञ है।

११. जैनधर्मके धार्मिक और सामाजिक रूपमें परिवर्तन

दक्षिणमें प्रवेशके समय जैन धर्मका जो रूप था, दक्षिणकी धार्मिक स्थिति-के कारण उस रूपमें अनेक दृष्टियोसे बहुत परिवर्तन हो गया। इस अध्यायमें हम विशेषरूपसे दक्षिणकी स्थितिके साथ उसके अन्तरको दृष्टिमें रखकर विचार करेंगे।

सबसे प्रथम यह विचारणीय है कि बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्मके साथ स्पर्धा-में आनेसे पूर्व जैन धर्मका रूप क्या था। यद्यपि जैन धर्मको नास्तिक कहा जाता है किन्तु वह आत्मा, परलोक, कर्मफलवाद तथा मोक्षको मानता है। जैन धर्मके अनुयायियोका सामाजिक जीवन बहुत सुव्यवस्थित रहा है और वे कठोर धार्मिक अनुशासनके पालक रहे हैं।

जैन धर्म ईश्वरको इस विश्वका कर्ता हर्ता नहीं मानता, इसीसे उसे ईश्वर-वादी नास्तिक कहते हैं। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि जैन धर्म चार्वाक-की तरह केवल भौतिकतावादी है। वह आत्माके शाश्वत अस्तित्वमें दृढ आस्था रखता है और शाश्वत सुख और शान्तिके लिए जीवनके सम्पूर्ण सदाचारपर जोर देता है। कुन्दकुन्द रचित प्रवचनसारमें जो दक्षिण भारतके जैन ग्रन्थोमें प्राचीन-तम माना जाता है। लिखा है—

"एवं कत्ता भोत्ता होज्ज अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥६९॥

अपने ही अज्ञान भावके द्वारा किये हुए कर्मोंके उदयसे आत्मा इस प्रकार कर्ता और भोक्ता होता हुआ मोहसे आच्छादित होकर इस ससारमें भ्रमण करता है जो ससार किसीके लिए सान्त है और किसीके लिए अनन्त है।

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ॥७०॥

जिसका मोहनीय कर्म उपशान्त भावको प्राप्त हुआ है या क्षयको प्राप्त हुआ है, जो सर्वज्ञ प्रणीत आगमके द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्गको प्राप्त हुआ है और ज्ञानानुसारी मार्गपर चलता है वह धीर पुरुष मोक्षनगरको जाता है।"

कर्मवादके सिद्धान्तको ब्राह्मणधर्म भी मानता है किन्तु उनका सिद्धान्त अधिकतर सदाचारविषयक प्रवृत्तिकी अपेक्षा यज्ञादि क्रियाकाण्डके करने या न करनेपर निर्भर था। उसके विपरीत जैन धर्म नैतिक सदाचारपर विशेष जोर देता था। और यह सदाचार केवल मनुष्यो तक ही सीमित नही था, किन्तु पशु पक्षीसे लेकर क्षुद्रजन्तु तक उससे बँधे हुए थे। कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—

"जीवो त्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसजुत्तो ॥२७॥
कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढ लोगस्स अतमधिगता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिदियमणत ॥२८॥"

जीव चेतन है, उपयोग—जानने देखने रूप परिणामोसे विशिष्ट है, अपने कर्मादिका स्वय स्वामी है, कर्ता और भोक्ता है, शरीरके बराबर परिणामवाला है, अमूर्तिक होनेपर भी कर्मबन्धनसे सयुक्त है। कर्मरूपी मलसे मुक्त होनेपर वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर ऊपर लोकके अन्त तक जाता है और अनन्त अतीन्द्रिय सुखको प्राप्त होता है।

अतः सब जीव समान है और वे कर्तृत्व-भोक्तृत्वके अविचल नियमसे बद्ध हैं। जैन सिद्धान्तके अनुसार जीवका निवास केवल मानव शरीरोमें ही नहीं है किन्तु सभी प्रकारके प्राणियोमें, जिनमें वृक्षादि भी हैं, जीवका वास है। जैकोबीके लेखानुसार भी यह सिद्धान्त जैन धर्मकी प्रमुख विशेषता है जो उसके समस्त आचार और विचारमें व्याप्त है। किन्तु पाषाण, वृक्ष और बहते हुए जलमें चेतनका अस्तित्व माननेवाले ब्रह्मवादसे जैनोका उक्त सिद्धान्त सर्वथा भिन्न है। तथा ब्राह्मण धर्मके अनुसार पशुओका यज्ञमें बलिदान करके देवताओको प्रसन्न किया जा सकता है। किन्तु जैन धर्मके अनुसार जीव अपनी प्रत्येक दशामें अवध्य है और किसी भी प्रकारके उपद्रवके द्वारा उसे अशान्ति पहुँचाना अनुचित है। यही जैनोका अहिंसा सिद्धान्त है। सोमदेवने अपने यशस्तिलक चम्पूमें एक कथाके द्वारा इस सिद्धान्तपर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है।

राजा यशोधर अपनी माताके अत्यन्त आग्रहसे जीवित पशुके बदलेमें आटेसे बनाये गये पशुका बलिदान करता है। और उसके फलस्वरूप दोनो माता पुत्रको अनेक जन्मोमें भीषण कष्ट उठाना पडता है। इस तरह उक्त कथाके द्वारा जैनोके कर्मसिद्धान्तके साथ अहिंसा सिद्धान्तपर भी बहुत जोर दिया गया है। जैनोको अपने इस सिद्धान्तके प्रचारमें काफी सफलता मिली और ब्राह्मण धर्म भी उससे प्रभावित हुआ। तमिलवेद तिरुकुरुलके रचयिता तिरुवल्लुवरने लिखा है—'लाखो यज्ञ करनेकी अपेक्षा प्राणियोको मारकर न खाना उत्तम यज्ञ है।

जैनधर्मके धार्मिक और सामाजिक रूपमे परिवर्तन

जो मनुष्य न तो किसी प्राणीका घात करता है और न मांस खाता है, संसार उसका आदर करता है।' जीव घात न करना सर्वोत्तम गुण है। हिंसा पापकी जननी है। कहा जाता है कि यज्ञ करनेसे मनुष्यको अनेक शुभाशीर्वाद प्राप्त होते हैं। किन्तु जीवनघातसे प्राप्त हुए शुभाशीर्वाद घृणा और द्वेष रूप ही होते हैं।'

तिरुकुरुलके रचयिता कुन्दकुन्दाचार्य थे ऐसा भी मत है। और जो ऐसा नहीं मानते वे उसके रचयिता तिरुवल्लुअरको शूद्रसन्त मानते हैं। उनका भी कहना[1] है कि उक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि तिरुवल्लुअरने अहिंसा सिद्धान्तको मानो पी लिया था और उसके प्रचारमें योगदान किया था। इससे प्रमाणित होता है कि द्रविड समाजके निम्नतम स्तरमें भी जैन उपदेश प्रविष्ट हो चुके थे।

श्री पिल्लईने लिखा[2] है 'कि निर्ग्रन्थ और बौद्धोंका लक्ष्य एक उच्च नैतिक आदर्श-जीवन था। इन दोनों धर्मोंने तमिल देशकी जनताके विचारों और भावनाओंपर बहुत जबरदस्त नैतिक और बौद्धिक प्रभाव डाला।

कर्नाटकके विषयमें भी यही कहा जा सकता है।

अहिंसा सिद्धान्तमें-से ही परोपकार, दया और क्षमा-जैसे सद्गुणोंका विकास हुआ जिन्होंने मानवताको अनुप्राणित किया। कुन्दकुन्द स्वामीने लिखा है—

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥१३७॥

'जो किसी भूखे प्यासे दुखी प्राणीको देखकर दुःखी होता है और दयाभावसे प्रेरित होकर उसके प्रतिकारके लिए उसके पास जाता है उसे अनुकम्पा कहते हैं।'

दूसरोंके रक्तके प्यासे मनुष्योंके लिए इसी प्रकारके मानवीय उपदेशकी आवश्यकता है। श्रीनिवास आयगरने लिखा है कि प्राचीन तमिल सैनिक शत्रुपक्षकी स्त्रियोंको उठा ले जाते थे, उनके घरोंको मिटा देते थे, सम्पत्ति लूट लेते थे और इसे उनका गुण समझा जाता था।

जैन धर्मके उक्त रूपमें अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं जिन्हें हम दक्षिण भारतमें शैवों और वैष्णवोंके साथ हुए संघर्षका परिणाम मान सकते हैं। जैन धर्म साधु और श्रावकके भेदसे दो भागोंमें विभाजित है। साधुधर्म जैन धर्मका औत्सर्गिकरूप है और श्रावकधर्म अपवादरूप है। पुरुषार्थसिद्धयुपायके प्रारम्भमें ही उसके रचयिता आचार्य अमृतचन्द्रने कहा है—'जो उपदेष्टा साधु साधुधर्मका

१ जै० क० क०, पृ० १३५।
२ जै० क० क०, पृ० १३६।

उपदेश न देकर गृहस्थधर्मका उपदेश देता है वह निन्दाका पात्र है। जब श्रोता साधुधर्मका उपदेश सुनकर भी उसे ग्रहण करनेमें असमर्थ हो तब उसे श्रावक धर्मका उपदेश देना चाहिए'। अत जैन धर्ममें साधु धर्मको ही प्रधानता रही है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थ हैं। उनमें साधुको लक्ष्य करके ही विशेष कथन किया गया है। श्रावक धर्मका तो निर्देश मात्र चारित्र-प्राभृतमें कर दिया है। जब धीरे-धीरे जैन साधुका कठिन आचार पालना कम होता गया तो श्रावक धर्मको मुख्यता मिलने लगी। फलत नौवीं दसवीं शताब्दी-से श्रावकाचारोंकी रचना विशेष पायी जाती है। श्रावक धर्म सम्बन्धी क्रिया-काण्डका विशेष रूपसे अवतरण जिनसेनाचार्यके महापुराणके कालमें हुआ है। महापुराणसे पूर्व जैन परम्पराके किसी ग्रन्थमें न षोडश संस्कारोंकी चर्चा है और न गर्भान्वय आदि क्रियाओंकी। यह मनुस्मृतिकी ही प्रतिक्रिया है। मनु-स्मृतिने जो ब्राह्मण वर्णको सर्वोच्च पद प्रदान करके शेष वर्णोंको हीन बतलाया, उसका समुचित उत्तर जिनसेनने दिया। एक ओर तो उन्होंने ब्राह्मणत्व जातिके अहंकारपर प्रहार किया, दूसरी ओर उन बातोंको भी अपनाया जिनके कारण ब्राह्मणत्वकी प्रतिष्ठा थी। ऐसा किये विना वे ब्राह्मणोंके बढते हुए प्रभावके सामने अपने धर्मकी रक्षा नहीं कर सकते थे।

समन्तभद्राचार्यने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है, 'धार्मिकोंके विना धर्म नहीं।' इस उक्तिको सूत्र रूपमें ग्रहण करके जैनाचार्योंने ऐसे लौकिक धर्मोंको भी अपने धर्ममें समाविष्ट कर लेना उचित समझा, जो धर्मसम्मत नहीं होते हुए भी लोकमें अपना विशेष प्रभाव रखते थे और जिनको अपनाये बिना बहुसख्यक समाजमें रहना कठिन था। उन्होंने अपने धर्मके मूल तत्त्वोंको पकडे रहकर ब्राह्मण धर्मकी उन सामाजिक आचार विषयक प्रवृत्तियोंको अपनाना उचित समझा जिनको अपनानेसे अपने धर्मको भी क्षति नही पहुँचती थी और सकटसे भी रक्षा होती थी। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें ऐसे अनेक प्रसग हैं। किन्तु उन्होंने स्पष्ट कर दिया[1] है कि गृहस्थके दो धर्म होते हैं—लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकानुसार चलता है और पारलौकिक आगमानुसार। जिससे सम्यक्त्वकी हानि न होवे और व्रतोंमें दूषण न लगे वह लौकिक विधि सब ही जैनोंके लिए मान्य है।

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने पचास्तिकायमें (गा० १६६) अरहन्त, सिद्ध, चैत्य और प्रवचन भक्तिका निर्देश किया है तथा प्रवचनसारमें (गा० १-६९) देव, यति और गुरुपूजाका निर्देश किया है। अत. जैन धर्ममें मूर्तिपूजाकी

१. सोम० उपा० श्लोक ४७६ तथा ४८०।

परम्परा तो प्राचीन है किन्तु उत्तरकालमें उसको ही विशेष रूपसे प्रावान्य दिया गया और मूर्ति तथा मन्दिरोंका निर्माण श्रावकका प्रधान धर्म बन गया।

सातवी शताब्दीके पद्मचरित (पर्व १४, श्लो० २१३) में कहा है— जो जिनभगवान्की आकृतिके अनुरूप जिनबिम्ब बनवाता है तथा जिन भगवान्की पूजा और स्तुति करता है उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है'। उसी शताब्दीके वराग चरित (सर्ग २२) में भी जिनपूजाके माहात्म्यके साथ जिनबिम्ब और जिनालय निर्माणका बहुत महत्त्व बतलाया है। दसवी शताब्दीसे तो इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुई है। आचार्य अमितगतिने सुभाषित रत्न सन्दोह (श्लो० ८७६) में लिखा है कि जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान्की अंगुष्ठ प्रमाण प्रतिमा बनवाता है वह अविनाशी लक्ष्मी प्राप्त करता है। आचार्य पद्मनन्दि उससे भी बढकर कहते हैं कि जो बिम्बपत्रके प्रमाण जिनमन्दिर बनाकर उसमें जो बराबर जिन-प्रतिमाकी स्थापना करते हैं उनके पुण्यका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती (पद्म० पंच० श्लो० २२)। आचार्य वसुनन्दिने उनसे भी बढ़कर कहा — जो कुन्थुम्भरिके पत्र बराबर जिनमन्दिर बनाकर उसमें सरसोंके बराबर भी जिनप्रतिमाकी स्थापना करता है वह मनुष्य तीर्थंकर पदके योग्य पुण्यबन्ध करता है (वसु० श्रा०, गा० ४८१)। इस प्रकारके कथनोंमें मुसलमानोंके द्वारा मन्दिरों और मूर्तियोंका भंजन भी एक कारण प्रतीत होता है।

मन्दिरों और मूर्तियोंके निर्माणको महत्त्व देनेके साथ ही साधुओंकी परिणतिमें भी अन्तर आया। उनका उपयोग भी ज्ञानाराधनासे हटकर मन्दिर और मूर्तियोंके निर्माण तथा रख रखावमें लगने लगा और धीरे-धीरे वे वनवासीसे चैत्यवासी बनते गये।

देवसेनने अपने दर्शनसार (वि० स० ९९०) में द्राविड संघके उत्पादक वज्रनन्दिके विषयमें लिखा है कि उसने कछार खेत वसति (जैन मन्दिर) और वाणिज्यसे जीविका निर्वाह करते हुए और शीतल जलसे स्नान करते हुए प्रचुर पापका संग्रह किया। ऐतिहासिक प्रमाणोंसे यह स्पष्ट है कि दक्षिणमें जैन साधुओंमें चैत्यवासके साथ मठाधीशपनेकी प्रवृत्ति ७वीं शताब्दीसे ही आ गयी थी और उत्तरोत्तर उसमें वृद्धि ही होती गयी। तथा प्रसिद्ध प्रसिद्ध ग्रन्यकार तक इस प्रवृत्तिसे अछूते नहीं थे।

कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

१ राजाधिराज विजयादित्यने पूज्यपादके शिष्य उदयदेवको शंख जिनेन्द्र मन्दिरके लिए शक स० ६२२में कर्दम नामक गाँव दानमें दिया।

२ पार्श्वनाथ चरितकी प्रशस्तिमें वादिराज सूरिने अपने दादा गुरु श्रीपाल-देवको 'सिंहपुरैकमुख्य' लिखा है और न्यायविनिश्चय विवरणकी प्रशस्तिमें अपनेको भी 'सिंहपुरेश्वर' लिखा है। इससे यही प्रतीत होता है कि वे सिंहपुर नामक स्थानके स्वामी थे, सिंहपुर उन्हें जागीरमें मिला था और वे उसके मठाधीश थे।

३ वल्ल ग्रामके वसिरे देवमन्दिरमें शक स० १०४७का एक शिलालेख है जिसमें उक्त वादिराजके वशज श्रीपाल योगीश्वरको होयसल वशके विष्णुवर्धन पोयसल देवने जिन मन्दिरोके जीर्णोद्धार और ऋषियोके आहारदानके लिए शल्य नामक ग्राम दान दिया था।

राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीयके सामन्त अरिकेसरीने श० स० ८८८ में अपने पिता वद्दिगके बनवाये शुभधाम जिनालयकी मरम्मत और चूनेकी कलई कराने तथा पूजोपहार चढानेके लिए सोमदेव (यशस्तिलकके कर्ता) को वनिकटुपल्लु गांव दानमे दिया।

इस प्रकारके दानपत्र सैकडो हैं। जैन शिलालेख सग्रहके चारो भाग ऐसे दानोसे भरे हुए हैं। केवल चतुर्थ भागके शिलालेखोमें से ८७ में जिनमन्दिरोंके निर्माण और जीर्णोद्धारका वर्णन है, १२६ मे जिनमूर्तियोकी स्थापनाका वर्णन है। २०८में मन्दिरो तथा मुनियोको गांव, जमीन, सुवर्ण, करोकी आय आदि देनेका वर्णन है।

इन लेखोंसे स्पष्ट है दि० जैन परम्पराके बडे-बडे मुनि भी अपने अधिकारमें गांव आदि रखते थे, उनकी आयसे वे मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराते थे, दूसरे मुनियोके आहारकी व्यवस्था करते थे, दानशालाएँ बनवाते थे। इस तरह उनका पूरा रूप मठपतियो-जैसा ही था। उस समय शुद्धाचारी दिगम्बर जैन मुनियोका अभाव हो गया था ऐसा तो नही कहा जा सकता किन्तु बहुत विरल ही होने चाहिए, जैसा गुणभद्राचार्यने अपने आत्मानुशासन (श्लो० १४९) में लिखा है — इस कलिकालमें एक दण्ड ही नीति है। वह दण्ड राजा देते हैं। वे राजा उस दण्डको धनका कारण बनाते हैं। वनवासी साधुओके पास धन नहीं है जिसे देकर वे राजासे दण्ड देनेकी प्रार्थना कर सकें। इधर वन्दना आदि से प्रसन्न होनेवाले आचार्य अपने शिष्य साधुओको सन्मार्गपर चला नही सकते। ऐसी अवस्थामें साधुओके मध्यमे समुचित साधु धर्मका पालन करनेवाले मणियोंके समान बहुत विरल—थोडे रह गये हैं।

आचार्य सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमे (वि० स० १०१६) कहा है कि कलिकालमें जब चित्त चचल हो गये हैं और शरीर अन्नका कीडा बन गया है

यही आश्चर्य है कि कुछ लोग जिन रूपको धारण करनेवाले पाये जाते हैं। तथा जैसे जिनेन्द्रोके लेपादिसे बनाये गये रूप (मूर्ति) पूज्य हैं उसी तरह पूर्वकालके मुनियोकी छायाके तुल्य आजकलके मुनि भी पूज्य हैं।

इससे पता चलता है कि उस समयके मुनियोकी दृष्टिमें भी उस समयके मुनि पूर्व मुनियोकी छाया तुल्य थे क्योंकि उनका चारित्र शिथिल था। इन्हीं शिथिलाचारी मुनियोसे दि० परम्परामें भट्टारक पन्थका उदय हुआ। प्रारम्भमें इन्होने वनवास छोडकर मन्दिरोंमें रहना शुरू किया, फिर मन्दिरोंके निमित्तसे दानादि ग्रहण करने लगे और इस तरह धीरे-धीरे हिन्दू महन्तोकी तरह पूरे मठाधीश बन गये। इनके मुख्य काम थे—निवासस्थानके रूपमें मठो और मन्दिरोका निर्माण तथा उपयोग। इसीके प्रबन्धादिके लिए भूमि आदिका दान लेना, ग्रन्थ लेखन तथा सरक्षण, चमत्कार आदिके द्वारा धर्मका उद्योत, शासक वर्गसे सम्बन्ध रखना आदि। इनमें-से अनेकोने सामयिक स्थितिके अनुसार धर्मकी रक्षामें सहयोग दिया किन्तु बुराइयोसे भी ये बच नहीं सके। पं० आशाधरने (वि० स० १३००) अपने अनगारधर्मामृतकी टीकामें शिथिलाचारी साधुओ तथा मठपतियोकी भर्त्सना करते हुए लिखा है—दूसरे प्रकारके मिथ्यात्वी वे द्रव्यलिंगधारी हैं जो अपनेको मुनि कहते हैं और बाहरसे आर्हती मुद्रा अर्थात् दिगम्बर मुद्राको भी धारण करते हैं परन्तु अन्तरगसे अवशी हैं—इन्द्रियोको नहीं जीतते हैं। तीसरे प्रकारके मिथ्यात्वी मठोके स्वामी द्रव्य जिनलिंगके धारी अर्थात् भट्टारक हैं जो म्लेच्छोके समान लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरण करते हैं।

इससे ज्ञात होता है कि विक्रमकी तेरहवी शताब्दी तक मठाधीश भट्टारक भी मुनियोकी तरह दिगम्बर वेशमें ही रहते थे किन्तु उनका आचरण शिथिलाचारी साधुओसे भी अधिक भ्रष्ट था। उसके पश्चात् तो मुस्लिम कालमें राजाके समान पालकी छत्र चामर गद्दी आदिका उपयोग करने लगे थे, राजसी वस्त्र और स्वर्ण जटित पीछी कमण्डलु धारण करते थे, यात्रा के समय राजाकी तरह ही सेवको और सवारीका प्रबन्ध रहता था। उनका पट्टाभिषेक भी राज्याभिषेककी तरह होता था। उसमें श्रावकोंसे भेंट भी ली जाती थी। कारजाके भट्टारक शान्तिषेणने तो बडे समारोहके साथ समुद्रस्नान किया था। ये दि० जैन परम्पराके इन नये गुरुओंकी लीला थी। दक्षिण भारतमें तो इस तरहकी प्रवृत्तियोके विरुद्ध कभी कोई आन्दोलन होनेका कोई सकेत नहीं मिलता किन्तु उत्तर भारतके अध्यात्मी विद्वानोने भट्टारक पन्थके विरुद्ध ऐसा आन्दोलन किया कि उत्तर भारतसे भट्टारकोंकी गद्दियाँ ही समाप्त हो गयीं। इनके समयमें रचे

गये साहित्यमें पुराण, कथा और पूजापाठकी बहुतायत है। पूजापाठोंमें भी गुणानुवादकी अपेक्षा स्तुतिवादकी अधिकता है। पहले तीर्थंकरोंके साथ उनके अनुचरके रूपमें यक्ष-यक्षिणियोंकी मूर्तियोंका निर्माण होता था। भट्टारक युगमें उनकी स्वतन्त्र मूर्तियाँ बनने लगीं तथा उनके स्तोत्र और पूजाएँ भी रची गयीं, और तीर्थंकरके समकक्ष रूपमें उनकी मान्यता होने लगी। सम्भवतया इसीसे सोमदेवको अपने उपासकाध्ययन (श्लो० ६९७) में यह लिखना पड़ा कि जो श्रावक जिनेन्द्रदेव और व्यन्तरादि देवताओंको समान रूपसे पूजता है वह नरकगामी होता है।

इस कालमें तीर्थंकरोंके भी जो स्तवन रचे गये वे प्रायः कर्तृत्व प्रधान हैं। उनमें जिनेन्द्रदेवको ईश्वरकी ही तरह सुख दुःखका दाता और अच्छा बुरा करनेवाला बतलाया गया है। यह सब शैव और वैष्णव धर्मके ही प्रभावकी झलक है। जैन पूजा विधि और पूजन द्रव्यपर भी इन धर्मोंका प्रभाव पड़ा है। अभिषेककी विधिका प्राधान्य भी उसीका परिणाम है।

शिलालेखोंसे प्रकट है कि मन्दिरोंकी सुरक्षा, जीर्णोद्धार तथा अष्टप्रकारी पूजाके निमित्त ही दान दिया जाता था। प्रायः सभी दाता मन्दिरोंके निमित्तसे दान करनेमें ही मुक्तिलाभ मानते थे। दक्षिण भारतमें श्रवणबेलगोलाका बड़ा महत्त्व था। दूर-दूरसे यात्री उसकी वन्दनाके लिए आते थे। और वहाँ अपना कोई स्मारक छोड़ आते थे। राजासे लेकर साधारण जन तक मूर्तिके अभिषेकके लिए दान देते थे। इसी तरह साधुओंके आहारके लिए, जैन यात्रियोंके निमित्त जलका प्रबन्ध करनेके लिए, शास्त्रोंके अध्ययनके लिए, मूर्तिके सम्मुख दीप जलानेके लिए, तथा नित्य पूजाके लिए दान दिया जाता था। एक दाताने तो प्रतिदिन दीप जलानेके लिए भेड़ें दानमें दी थीं।

इन दानपत्रोंके अन्तमें दानकी सुरक्षाके भावसे दानका अनुचित उपयोग करनेवालोंको शाप भी दिया रहता था। यथा—जो दानमें दी हुई अमुक भूमिको स्वयं लेगा या किसी दूसरेको देगा उसे ६० हजार वर्ष पर्यन्त कीटयोनिमें जन्म लेना पड़ेगा। देवताकी सम्पत्ति एक साघातिक विष है। विष तो एक ही मनुष्यके प्राण लेता है किन्तु देवताको प्रदान की गयी सम्पत्तिका हरण वंशको ही निर्मूल कर देता है। आदि।

इस तरह गृहस्थ धर्मके आकर्षणका सम्पूर्ण केन्द्र मन्दिर और मूर्तियाँ बन गये थे। फलतः कर्म सिद्धान्तकी मान्यतापर भी उसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। जब जिनेन्द्रदेवको, जो एक समय सम्पूर्ण जाज्वल्यमान चारित्रके प्रतिरूप थे, दैवी विपत्तियोंसे रक्षा करनेवाला मान लिया गया तो लोगोंने अपने आचरणमें

सुधार करना छोडकर केवल भक्तिका मार्ग अपना लिया, जैसा कि अन्य धर्मोंमें देखा जाता है और भगवान्‌के केवल नामस्मरणसे समस्त दु खोका अन्त मान लिया गया। कल्याणमन्दिर आदि स्तोत्रोकी रचना उसी जिनभक्तिका प्रभाव प्रदर्शित करनेके लिए हुई थी।

आगे चलकर यह भक्तिमार्ग गृहस्थो तक ही सीमित नही रहा। समन्तभद्र और अकलंक-जैसे महान् आचार्योंको भी उससे बद्ध कर दिया गया। अकलक-की कथामें कहा गया है कि बौद्धदेवी ताराको पराजित करनेके लिए अकलक-देवको कूष्माण्डिनी देवीकी मदद लेना पडी। ऐलाचार्यने ज्वालामालिनी स्तोत्रको सहायतासे किसी दुष्ट देवको वशमें किया।

शिलालेखोमें भी पद्मावती देवीके अनेक उल्लेख मिलते हैं। कन्नडमें आज भी उसके भक्तोकी सख्या कम नही है। वेलूरसे प्राप्त एक शिलालेखमें लिखा है कि एक मुनिने होयसलोकी सम्पत्तिको बढानेके लिए पद्मावतीको आहूत किया।

हिन्दू समाज एक विशाल समाज है। उसके मध्यमे रहनेवाले छोटे-से जैन समाजके लोगोका उसके आचार-विचारसे प्रभावित होना स्वाभाविक है। फिर जब जनतामें ज्ञानकी कमी हो और प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायोसे रात-दिन सघर्ष चलता हो, तब तो और भी अधिक इस बातकी सम्भावना रहती है। एक अँगरेज लेखकने[1] लिखा है कि दक्षिण कनाराके जैन लोग भूतोको पूजते है। वे अपने घरोमें उनके लिए एक कमरा अलग रखते हैं उसे 'पडोले' कहते हैं। और उनके आगे पशुबलिके बदलेमें बकरे वगैरहकी मूर्तियोका बलिदान करते हैं। डॉ० [2]जेकोबीने भी लिखा है कि भूतोके विषयमें जैनोका भी वही भाव प्राय है जो अन्य हिन्दुओका है।

इसी तरह दक्षिणमें जो जैनोमें भी यज्ञोपवीत धारण करनेको प्रथा है जिसे देखकर कुछ मुनिगण उत्तर भारतमें भी उसका प्रचार किया करते हैं यह कोई प्राचीन जैन परम्परा नहीं ज्ञात होती। हमारे देखनेमें तो जिनसेनके महा-पुराणमें ही सर्वप्रथम यज्ञोपवीतकी चर्चा आयी है। यज्ञोपवीत नाम ही इस बात-का साक्षी है कि यह याज्ञिक प्रथा है जैन नहीं और इसे तत्कालीन परिस्थिति-वश ही अपनाना पडा है। इसीसे उत्तर भारतके दि० जैनोमें तथा श्वेताम्बर जैनोंके साहित्यमें यज्ञोपवीतका चलन या चर्चा नहीं है।

□

१-२ जै० क० क०, पृ० १४७।

१२. दक्षिणकी जैन जातियाँ

अब हम दक्षिणकी जैन जातियोंपर प्रकाश डालेंगे। मराठी ज्ञानकोषमें जैनोंकी ८४ जातियाँ लिखी हैं। और उनके निर्माणमें बहुत छोटी-छोटी घटनाएँ भी सम्मिलित हैं। उन सब तुच्छ बातोंमें न जाकर हम उन जातियोंके कुछ मुख्य कारणका ही यहाँ विवेचन करेंगे।

धारवाडके जैनोंमें एक अनुश्रुति चली आती है कि राजा इक्ष्वाकुके दो पुरोहित थे—एकका नाम पर्वत था, और दूसरेका नारद। पर्वत पशुयज्ञ करता था, और नारद धान्य यज्ञ करता था। उनमें से पर्वतके उत्तराधिकारी जैन हैं। उनका यह भी कहना है कि पहले हमारेमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण थे। किन्तु क्षत्रियोंके न रहनेसे अब तीन ही वर्ण हैं।

अन्वेषक विद्वान् इन वर्णोंको आर्य जातिकी देन मानते हैं। और द्रविडोंमें इनका पाया जाना उनपर आर्योंके प्रभावका सूचक माना जाता है। इसको प्रमाणित करनेके लिए वे दक्षिण कनारामें पाये जानेवाले उत्तराधिकार सम्बन्धी एक परम्पराको उपस्थित करते हैं जिसके अनुसार पिताकी सम्पत्तिका उत्तराधिकार पुत्रको न मिलकर उसके भानजेको मिलता है अर्थात् भानजा अपने मामाकी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी होता है। यह द्रविड परम्परा है।

दक्षिण कनारा जिलेमें जैन पुजारियोंकी दो जातियाँ हैं—एक कन्नड पुजारी और एक तुलु पुजारी। इनमें-से तुलु पुजारी स्वदेशी माने जाते हैं और कन्नड पुजारी विदेशी। पुजारी लोग अपनी जातिमें ही विवाह सम्बन्ध करते हैं किन्तु भोजन व्यवहार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंके साथ भी चलता है। यदि वे अपनी जातिसे बाहर विवाह सम्बन्ध करते हैं तो उक्त तीन वर्णोंमें ही करते हैं।

इनके सिवाय दक्षिणके जैनोंमें सेतवाल, पंचम, चतुर्थ और कासार बोगार ये चार जातियाँ हैं। पहले ये चारों जातियाँ एक ही थीं और पंचम कहलाती थीं। पंचम यह नाम ब्राह्मणोंका दिया हुआ है। ब्राह्मण लोग जैनोंको तुच्छताकी दृष्टिसे देखते थे। और इसलिए उन्हें चारों वर्णोंसे बाहर पाँचवें वर्णका अर्थात् पंचम कहते थे। धीरे-धीरे यह नाम रूढ हो गया और जैनोंने स्वयं भी उसे स्वीकार कर लिया। जब दक्षिणमें वीरशैव या लिंगायत सम्प्रदायका

उदय हुआ तो उसने इन जैनो या पंचमोको अपने धर्ममें दीक्षित करना शुरू किया। लाखो जैन लिंगायत बन गये। परन्तु लिंगायत हो जानेपर भी उनके पीछे पूर्वोक्त पचम विशेषण लगा ही रहा और इस कारण इस समय भी वे 'पचम लिंगायत' कहलाते हैं। उस समय तक चतुर्थ आदि जातियाँ नहीं बनी थीं। इसलिए जो जैन जैन धर्म छोडकर लिंगायत हुए थे वे पचम लिंगायत ही कहलाते हैं, चतुर्थ लिंगायत आदि नहीं। दक्षिणके अधिकाश जैन ब्राह्मण भी—जो उपाध्याय कहलाते हैं, पचम जाति भुक्त हैं, चतुर्थादि नहीं। इससे भी जान पडता है कि वे भेद पीछेके है।

पहले दक्षिणके सब जैनोमें परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार होता था और वे सब पचम कहलाते थे। लिंगायत सम्प्रदायका जोर होनेपर उनकी सख्या कम हो गयी इसलिए सोलहवीं शताब्दीके लगभग भट्टारकोने जातिगत सघ बनाये और उसी समय जुदे-जुदे मठोके अनुयायियोको चतुर्थ, शेतवाल, बोगार अथवा कासार नाम प्राप्त हुए। साधारण तौरसे खेती और जमीदारी (पाटली) करनेवाले चतुर्थ, कासे पीतलके बर्तन बनानेवाले कासार या बोगार और केवल खेती और सिलाई तथा कपडेका व्यापार करनेवाले शेतवाल कहलाने लगे। मराठीमें खेतीका पर्यायशब्द शेती या शेतकी है जिससे शेतवाल शब्द बना है। और ये सब धन्धे जिस मूल समुदायमें थे और जो पुराने नामसे चिपटे रहे वे पचम ही बने रहे। इसीसे पचमोमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनो वर्णोंके धन्धे करनेवाले प्राय समान रूपसे मिलते है। कासारोमें वैष्णव भी हैं। वैष्णव त्वष्टा कासार कहलाते हैं और जैन पचम कासार। कासार नाम पेशेके कारण है और पचम नाम धर्मके कारण। जिनसेनमठ (कोल्हापुर) के अनुयायियोको छोडकर अन्य किसी मठके अनुयायी चतुर्थ नही कहलाते।

पंचम, चतुर्थ, शेतवाल और बोगार या कासारमें परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार अबतक चालू है। कुछमें विधवा विवाह भी होता है।



१३. जैन संघोंका परिचय

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि पुण्ड्रवर्धनपुरमें अर्हद्बलि नामके आचार्य रहते थे। प्रत्येक पांच वर्षोंके अन्तमें वे सौ योजनमें बसनेवाले मुनियोंको युगप्रतिक्रमणके लिए बुलाते थे। एक बार ऐसे ही प्रतिक्रमणके अवसरपर समागत मुनियोंसे इन्होंने पूछा—क्या सब आ गये ? हाँ, हम सब अपने संघके साथ आ गये, मुनियोंने उत्तर दिया। इस उत्तरको सुनकर उन्हें लगा कि जैन धर्म गणपक्षपातके साथ ही प्रवर्तित रह सकेगा। अतः उन्होंने संघोंकी रचना की। जो मुनि गुफासे आये थे उनमें से किसीको नन्दि नाम दिया और किसीको वीर नाम। जो अशोकवाटसे आये थे उनमें-से कुछको अपराजित नाम दिया, कुछको देव नाम। जो पञ्चस्तूप्य निवाससे आये थे उनमें से कुछको सेन नाम दिया कुछको भद्र। जो शाल्मलीवृक्षके मूलसे आये थे उनमें-से किन्हीं-को गुणधर नाम दिया, कुछको 'गुप्त'। जो खण्डकेसर वृक्षके मूलसे आये थे उनमें-से किन्हीको सिंह नाम दिया किन्हींको चन्द्र।

अपने कथनके समर्थनमें इन्द्रनन्दि आचार्यने एक श्लोक भी उद्धृत किया है—

> 'आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटा-
> द्देवाश्चान्योऽपरादिर्जित इति यतिपौ सेन-भद्राह्वयौ च।
> पञ्चस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभ: शाल्मलीवृक्षमूलात्
> निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ॥ ९६ ॥

देवसेनने अपने दर्शनसार (वि० सं० ९९०) में पांच संघोंको जैनाभास कहा—श्वेताम्बर, यापनीय, द्रविड, काष्ठासंघ और माथुरसंघ।

भट्टारक इन्द्रनन्दि प्रणीत नीतिसारमें भी अर्हद्बलि आचार्यके द्वारा संघ निर्माणका उल्लेख है। उन संघोंका नाम है—सिंहसंघ, नन्दिसंघ, सेनसंघ और देवसंघ। तथा यह भी लिखा है कि इनमें कोई भेद नहीं है। इसमें भी पांच संघोंको जैनाभास बताया है। वे पांच हैं—गोपुच्छिक, श्वेताम्बर, द्रविड, यापनीय, और नि पिच्छ। इसमें काष्ठासंघको जैनाभास नहीं कहा। तथा माथुर संघका तो नामोल्लेख भी नहीं किया।

नीचे दक्षिणसे प्राप्त शिलालेखोके आधारपर सघोका परिचय कराया जाता है।

मूलसंघ—

ऊपर जो संघोके नाम दिये है उनमे मूलसघ नाम नही है। किन्तु सिंह, नन्दि, सेन और देव ये चारो सघ, जिनकी स्थापना अर्हद्बलिके द्वारा की गयी बतलायी है, मूल सघके ही अन्तर्गत गण हैं। इन्हें किसीने भी जैनाभास नहीं कहा। अत ये सब मूलसघके नामसे अभिहित किये गये।

मूलसघका सबसे प्रथम उल्लेख नोणमगलके दानपत्र (जै० शि० स०, भाग २, पृ० ६०-६१)में मिलता है जो शक स० ३४७ (वि० स० ४८२)के लगभगका है। और विजयकीर्तिके उरनूरके जिनमन्दिरोको कोगणि वर्मा महाराजने दिया है। इसके बाद दूसरा उल्लेख आल्तम (कोल्हापुर)में मिले श० स० ४११ (वि० सं० ५१६)के दानपत्रमें मिलता है जिसमें मूलसघ काकोपल आम्नायके सिंहनन्दि मुनिको अलक्तकनगरके जैन मन्दिरके लिए कुछ गाँव दानमें दिये हैं। दान देनेवाले थे पुलकेशी प्रथमके सामन्त सामियार।

इस सघके अन्तर्गत सात गणोके उल्लेख मिलते हैं – देवगण, सेनगण, देशीगण, सूरस्थगण, बलात्कारगण, क्राणूरगण तथा निग्मान्वय। इनमें देवगण लेखोकी दृष्टिसे प्राचीन है। श्रवणबेलगोलाके एक लेखमें (जै० शि० स० भाग १, लेख न० १०८) अकलकदेवके पश्चात् सघोकी रचना बतलायी है अत. कोई विद्वान् अकलकदेवको देवसघका प्रतिष्ठापक बतलाते हैं।

लेखोंमें सेनगणका सर्वप्रथम उल्लेख सूरत ताम्रपत्रमें (जै० शि० सं० भाग ४, लेख न० ५५) मिलता है जो शक स० ७४३ (वि० स० ८७८) का है। उस वर्षमें कर्कराजने मूलसघ सेनसघके मल्लवादि गुरुके शिष्य सुमति पूज्यपादके शिष्य अपराजित गुरुको नागसारिकाके जिनमन्दिरके लिए खेत दानमें दिया था। उत्तरपुराणके रचयिता गुणभद्रने अपने गुरु जिनसेन और दादा गुरु वीरसेन स्वामीको सेनान्वयका कहा है। परन्तु जिनसेन और वीरसेनने जयधवला और धवलाकी प्रशस्तिमे अपनेको पचस्तूपान्वयका कहा है। पहाड़पुरसे (जिला राजशाही, बगाल) प्राप्त शिलालेखसे ज्ञात होता है कि पचस्तूपान्वय ईसाकी पाँचवीं शताब्दीमें निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके साधुओका एक सघ था। इस शिलालेखके अनुसार अरहतोकी पूजाके लिए गुप्त सवत् १५९ (वि० स० ५३५) में तीन गांव दानमें दिये थे। इन्द्रनन्दिके लेखानुसार भी पचस्तूपसे आये हुए मुनियोके सघको सेन नाम दिया गया था। अत पचस्तूपान्वय उत्तरकालमें

सेनान्वयके नामसे प्रसिद्ध हुआ क्योंकि वीरसेनके बाद किसी आचार्यने अपने ग्रन्थमें पंचस्तूपान्वयका उल्लेख नहीं किया है।

सेनगणके तीन उपभेद—

सेनगण के तीन उपभेद हैं—पोगरी या होगरी गच्छ, पुस्तक गच्छ एव चन्द्रकपाट। पोगरी गच्छका पहला लेख (जै० शि० स० भाग ४, न० ६१) शक स० ८१५ (वि० स० ९५०) का है। उसमें मूलसघ सेनान्वय पोगरियगणके आचार्य विनयसेनके शिष्य कनकसेनको ग्रामदानका उल्लेख है। चन्द्रकवाट अन्वयका पहला लेख (जै० शि० स० भाग ४, लेख न० १३८) शक स० ९७५ (वि० स० ११११०) में चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर प्रथम आहवमल्लके राज्यमें लिखा गया था। इसमें नयसेन पण्डितको कुछ भूमिदानका उल्लेख है। नयसेनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है – मूलसघ सेनान्वय चन्द्रकवाट अन्वयके अजितसेन, कनकसेन-नरेन्द्रसेन-नयसेन। नरेन्द्रसेन और नयसेन व्याकरणशास्त्रके पण्डित थे।

सेनगणके तीसरे उपभेद पुस्तक गच्छका उल्लेख १४वीं शताब्दीके एक शिलालेख (जै० शि० स० ४, लेख न० ४१५) में है।

देशीगण—

अनेको लेखोंमें देशिय, देशिक, देसिग, देसिय आदि नामोसे इस गणका उल्लेख मिलता है। दक्षिण भारतमें कन्नड प्रान्तके उस हिस्सेको, जो कि पश्चिमीघाटके उच्चभूमिभाग (बालाघाट) और गोदावरी नदीके बीचमें है एक समय देश नामसे कहते थे। वहाँके ब्राह्मण अब भी देशस्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। सम्भव है उसीके आधारपर देशीयगण भी प्रचलित हुआ हो। इस गणके आदिम आचार्योंके नामके साथ भट्टार पद जुडा है। यथार्थमें ९वी दसवीं शताब्दीके अनेको लेखोंमें मुनियोकी उपाधि भट्टार दी गयी है। पीछेके लेखोंमें इस गणके आचार्योंकी उपाधि सिद्धान्तदेव, सैद्धान्तिक तथा त्रैविद्य दी गयी है। शिलालेखोंके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि कर्नाटक प्रान्तके कई स्थानोंमें इस गणके केन्द्र थे। उन स्थानोंमें से हनसोगे (चिकहनसोगे) प्रमुख था। यहाँके आचार्योंसे ही आगे चलकर इस गणकी हनसोगे वलि या गच्छ निकला है। गच्छका अर्थ होता है शाखा, और वलि (कन्नड शब्द वलय या वलग)का अर्थ होता है परिवार।

चिकहनसोगेसे प्राप्त शिलालेखोसे ज्ञात होता है कि वहाँ इस गणकी अनेक वसदियाँ (मन्दिर) थीं जिन्हें चगाल्व नरेशो-द्वारा सरक्षण प्राप्त था। देशी-

गणका प्रमुख गच्छ पुस्तक गच्छ है इसका उल्लेख अधिकाश लेखोमें मिलता है। हनसोगे वलि पुस्तक गच्छका ही एक उपभेद है पुस्तक गच्छका दूसरा उपभेद इंगुलेश्वर वलि है।

देशीगणके दूसरे उपभेद आर्यसघग्रहकुलका उल्लेख दसवीं शतीके एक लेख-(जै० शि० स० भाग ४, लेख न० ९४) में मिला है। इसकी विशेषता यह है कि यह लेख उडीसाके खण्डगिरिपर्वतपर मिला है जब कि देशीगणके अन्य उल्लेख मैसूर प्रदेशके हैं। देशीगणका तीसरा उपभेद चन्द्रकराचार्याम्नाय मध्यप्रदेशसे प्राप्त एक लेखमे (जै० शि० स० भाग ४, न० २१७) है। देशीगणके चौथे उपभेद मैदणान्वयका उल्लेख १३वीं सदीके लेखमें मिला है।

कोण्डकुन्दान्वय—

कोण्डकुन्दान्वयको ही आज कल कुन्दकुन्दान्वय कहते हैं। इसका अर्थ होता है कोण्डकुन्दे स्थानसे निकला मुनिवश। समयसार आदि ग्रन्थोके रचयिता आचार्य कुन्दकुन्दका वास्तविक नाम पद्मनन्दि था। कोण्डकुन्दे स्थानसे सम्बद्ध होनेके कारण वे कुन्दकुन्द नामसे प्रसिद्ध हुए।

कोण्डकुन्दान्वयके साथ देशीयगणका प्राचीनतम उल्लेख मर्कराके ताम्रपत्रों (वि० स० ५२३) में मिलता है किन्तु उन ताम्रपत्रोकी सत्यतामें सन्देह किया जाता है। उसके पश्चात् इस प्रकारका उल्लेख वि० स० ९८८ के एक लेखमें (जै० शि० सं० भाग २, लेख न० १५०) मिलता है।

सूरस्थगण –

मूल सघका एक गण सूरस्थ नामसे प्रसिद्ध था यह शिलालेखोसे ज्ञात होता है। लेखोमें सूरस्त, सुराष्ट्र एव सूरस्थ नामसे इसका उल्लेख मिलता है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख वि० स० १०१९के एक लेखमें मिलता है। श्री देसाईने लिखा[1] है कि बम्बई कर्नाटक प्रदेशसे प्राप्त शिलालेखोसे ज्ञात होता है कि मूल सघकी एक प्रमुख शाखा सोराष्ट्र गण धारवाड और बीजापुर जिलोमें कार्यशील थी। इसके दो उपभेद थे—चित्रकूटान्वय और कौरूर गच्छ। सोराष्ट्र गणको सेनसघ भी कहते थे।'

इस गणके किसी भी लेखमें कुन्दकुन्दान्वयका निर्देश नहीं है। तथा इस गणके लेख दसवी शताब्दीसे १३वी शताब्दी तकके मिलते हैं।

---

१. जै० सा० इ०, पृ० १७०।

क्राणूर गण –

इस गणके तीन उपभेदोके उल्लेख मिलते हैं – तिन्त्रिणी गच्छ, मेपपापाण गच्छ और पुस्तकगच्छ। इस गणका प्रथम उल्लेख दसवी शताब्दीके लेख (जै० शि० सं० भाग ४, न० ९६) मे मिलता है। तथा १४वीं शताब्दीके अन्त तक उल्लेख मिलते हैं। मूलसंघके देशियगण और क्राणूर गणकी अपनी वसदियाँ होती थीं। दडिगसे प्राप्त एक लेखमें लिखा है कि होयसल सेनापति मरियाने और भरतने दडिगणकेरे स्थानमे पांच वसदियाँ बनवायी थीं। उनमें चार तो देशियगणके लिए और एक क्राणूर गणके लिए।

१४वीं शताब्दीके बाद क्राणूर गणका प्रभाव बलात्कार गणके प्रभावशाली भट्टारकोके आगे क्षीण हो गया।

बलात्कार गण –

नन्दिसघकी गुर्वावलीमें लिखा है कि बलात्कार गणके अगुवा पद्मनन्दी मुनि हुए उन्होने गिरनार पर्वतपर पाषाणकी सरस्वतीको वाचाल कर दिया उससे सारस्वतगच्छ बना। गिरनार पर्वतपर दिगम्बरो और श्वेताम्बरोके बीच शास्त्रार्थ होनेका उल्लेख कई जगह मिलता है। जिनके साथ शास्त्रार्थ हुआ उनका नाम पद्मनन्दि था। नन्दिसघकी पट्टावलीमें लिखा है।

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥३६॥
उर्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने ॥३७॥

अर्थात् बलात्कार गणके अग्रणी पद्मनन्दी गुरु हुए जिन्होने गिरनारपर पाषाणसे निर्मित सरस्वतीको वाचाल कर दिया। उससे सारस्वत गच्छ हुआ।

यह पद्मनन्दि कोई भट्टारक थे। किन्तु बलात्कार गणके अनेक ग्रन्थकारोंने आचार्य कुन्दकुन्दको अपना आद्य प्रमुख माना है।

इस गणका पहला उल्लेख शक स० ९९३–९९४ (वि० स० ११२८–२९) के शिलालेखमें (जै० शि० स० भाग ४, न० १५४) मिलता है। उसमें 'मूलसघ, नन्दिसघका बलात्कारगण' ऐसा उल्लेख है। एक शिलालेख (जै० शि० स० भाग ३, न० ५८५) में मूलसघके साथ नन्दिसघ बलात्कारगण सारस्वत गच्छका उल्लेख है और उसके आदि आचार्यका नाम पद्मनन्दि लिखा है तथा उसके एलाचार्य कुन्दकुन्द आदि पाँच नाम बतलाये हैं। अर्थात् कुन्दकुन्दा-

चार्यको ही उसका प्रवर्तक मान लिया है। इस शिलालेखका काल शक स० १३०७ (वि० स० १४४२) है।

केवल बलात्कार गणका प्राचीन उल्लेख श्रीचन्द्रने अपने उत्तरपुराण टिप्पण और पद्मचरित टिप्पणकी प्रशस्तिमें किया है। उनका रचना काल वि०स० १०८७ है। प्राय चौदहवीं शतीसे इसके साथ सरस्वती-गच्छ या उसके पर्याय-वाची भारती गच्छ आदि जुडे हैं। इस गणके ज्यादातर उल्लेख कर्णाटकमें मिले हैं। किन्तु इसकी शाखाओका विस्तार अनेक स्थानोमें हुआ है। यथा—कारजा, लातूर, देहली, जयपुर, नागोर, सूरत, ईडर आदि।

इस गणके भट्टारकोने ग्रन्थरचना भी पर्याप्त की है। भट्टारक सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, सुमतिकीर्ति आदि इसी गणसे सम्बद्ध थे। भट्टारक सकलकीर्तिने लगभग बीस ग्रन्थोकी रचना की। ये ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे। इनके शिष्य तथा लघुभ्राता ब्रह्म जिनदासने भी लगभग इतने ही ग्रन्थ रचे थे। ब्रह्म नेमिदत्तका आराधना कथाकोष प्रसिद्ध है। इन्होने भी लगभग दस ग्रन्थोकी रचना की। ब्रह्म श्रुतसागरकी ३८ रचनाएँ ज्ञात हो सकी हैं। भट्टारक शुभचन्द्र रचित ग्रन्थोकी तालिका उनके द्वारा रचित पाण्डव पुराणकी प्रशस्तिमें दी है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी इनकी टीका द्रष्टव्य है।

अब हम उन संघोकी ओर आते हैं जिन्हें जैनाभास कहा गया है। सबसे प्रथम हम यापनीय सघकी ओर आते हैं।

यापनीय संघ—

यापनीय सघकी स्थापना दर्शनसारके कर्ता श्री देवसेन सूरिके कथना-नुसार वि० सं० २०५ में श्री कलश नामके श्वेताम्बर साधुने की थी। यह समय दिगम्बर श्वेताम्बर भेदकी उत्पत्तिसे लगभग ७० वर्ष बाद पडता है। इससे भी यह तो ज्ञात होता है कि सघ भेदके पश्चात् ही इस संघकी स्थापना हुई थी। यह सघ एक तरहसे दिगम्बर श्वेताम्बर भेदके बीचकी स्थितिमें था क्योंकि इस सघके साधु एक ओर तो दिगम्बर साधुओको तरह ही नग्न रहते थे, मयूर पिच्छ रखते थे, हाथमें भोजन करते थे, नग्न मूर्तियोको पूजते थे। किन्तु श्वेताम्बरोंकी तरह स्त्रियोको उसी भवमें मोक्ष मानते थे, केवलीको कवलाहारी मानते थे, श्वेताम्बर मान्य आगमोको मानते थे किन्तु उनकी वाचना-में कुछ भेद था।

इस सघने दक्षिण भारतके जैन धर्मके इतिहासमें महत्त्वपूर्ण भाग लिया था ऐसा प्रतीत होता है। इसकी उत्पत्ति भी कर्नाटकके उत्तरीय प्रदेशमें होनेका

अनुमान है। क्योंकि कर्नाटक प्रदेशके शिलालेखोंमें यापनीयोंके सम्बन्धमें काफी सूचनाएँ पायी जाती हैं और अन्य प्रदेशोंके संग्रहोंमें इनका अभाव है। अतः कर्नाटक प्रदेशमें जन्म लेकर इस संघने धीरे-धीरे अपनी शक्तिको बढ़ाया तथा पाँचवीं शतीसे १५वीं शताब्दी तक इसे कर्नाटकके अनेक प्रदेशोंमें राजकीय तथा जनताका संरक्षण प्राप्त हुआ। किन्तु इसमें एक उल्लेखनीय बात यह है कि कर्नाटकके एक दम दक्षिणी भागमें, जिसमें मैसूर भी सम्मिलित है, शिलालेखोंमें यापनीयोंका उल्लेख बहुत विरल है।[1] श्रवणबेल्गोलाके लेखोंमें एक भी यापनीय उल्लेख स्पष्ट रूपमें नहीं मिलता। विगत अन्वेषणोंके फलस्वरूप ज्ञात होता है कि हुन्निकेरी, कलभावी, सौन्दत्ति, बेलगाँव, बीजापुर, धारवाड, कोल्हापुर प्रदेशोंके कुछ स्थानोंमें यापनीयोंका जोर था।

यापनीय संघके अन्तर्गत नन्दिसंघ एक महत्त्वपूर्ण शाखा थी। उसकी भी एक प्रसिद्ध शाखा पुन्नागवृक्ष मूल गण था। शिलालेखोंमें निर्दिष्ट बहुत-से साधु इसी गणसे सम्बद्ध थे। इसके सिवाय भी यापनीयोंके अनेक गण थे। दो एक लेखोंमें (जै० शि० स० भाग ४, न, ७०, तथा १३१) कुमुदि गणका उल्लेख मिलता है। इनमें-से पहला लेख नौवीं शतीका है और दूसरा १०४५ ई० का है। दोनोंमें जिनालय निर्माणका उल्लेख है। हूलि (जि० बेलगाँव), अदरगुचि (जि० धारवाड) और हुवलिसे प्राप्त शिलालेखोंमें (वही, न० २०७, २६८, ३८६) जो १२वीं १२वीं सदीके हैं, कण्डूरगणका उल्लेख है। सेदमसे प्राप्त लेखमें 'मडुव' गणका उल्लेख है। आडकी, सौदी, तेंगाली और मनौलीके लेखोंमें वन्दि-यूर गणका उल्लेख है। बदली, हुन्निकेरी, सौन्दत्तिके शिलालेखोंमें कारेयगण और मैलाप अन्वयका उल्लेख है।[2] यापनीयोंके साथ गच्छका निर्देश नहीं मिलता, यद्यपि आन्ध्रसे प्राप्त एक लेखमें नन्दिसंघका उल्लेख नन्दिगच्छके रूपमें मिलता है। इस मलियपुण्डि दानपत्रके अनुसार धर्मपुरी गाँवमें कटक राज दुर्गराजकी ओरसे एक जिनालयका निर्माण कराया गया था। उसका नाम कटकाभरण जिनालय था। दुर्गराजकी प्रार्थनापर अम्मराज द्वितीयने जिनालयके निमित्तसे मलियपुण्डि गाँव दानमें दिया था। यह जिनालय श्री मन्दिरदेव गुरुके अधिकारमें था और श्री मन्दिरदेव यापनीय संघ, कोटि मडुव या मडुवगण और नन्दिगच्छके जिननन्दिके प्रशिष्य और दिवाकरके शिष्य थे। आन्ध्र देशमें यापनीय संघके अस्तित्वको बतलानेवाला यही एक लेख अभीतक प्राप्त हुआ है।

---

[1] जै० सा० इ०, पृ० १६४।
[2] जै० सा० इ०, पृ० १६६।

द्राविड़ संघ—

दर्शनसारमें आचार्य देवसेनने द्राविड सघके सम्बन्धमें लिखा है कि पूज्य॰ पादके शिष्य वज्रनन्दिने वि० स० ५२६ में मथुरामें द्राविड सघकी स्थापना की। वज्रनन्दिके विषयमें लिखा है कि उस दुष्टने कछार खेत वसदि और वाणिज्यसे जीविका करते हुए तथा शीतल जलसे स्नान करते हुए प्रचुर पाप अर्जित किया। किन्तु शिलालेखोमें इस सघके आचार्योमें अनेक प्रतिष्ठित और विद्वान् आचार्योके नाम मिलते है। अत उक्त कथनकी सत्यतामें सन्देह होना स्वाभाविक है। परन्तु मन्दिर बनानेकी बात तो ऊपर आ चुकी है। उसके निमित्तसे खेती-बारी और वाणिज्य भी चलता होगा। इसीसे दर्शनसारमें द्रविड सघको जैनाभास कह दिया होगा। वादिराज द्राविड संघके थे। उनकी गुरु शिष्य-परम्परा मठाधीशोकी परम्परा थी। वे मन्दिर बनवाते थे, उनका जीर्णोद्धार कराते थे, मुनियोके आहार दानकी व्यवस्था करते थे। वादिराजके समकालीन मल्लिषेण थे। उनके मन्त्र तन्त्र विषयक ग्रन्थोमें मारण, उच्चाटन, वशीकरण, मोहन, स्तम्भन आदिके अनेक प्रयोग हैं। ज्वालामालिनी कल्पके कर्ता इन्द्रनन्दि योगीन्द्र भी द्रविड सघके थे। इस ग्रन्थकी उत्थानिकामें लिखा है कि दक्षिणके मलयदेशके हेमग्राममें द्राविड सघके अधिपति हेलाचार्य थे। उनकी शिष्याको ब्रह्मराक्षस लग गया। उसकी पीडा दूर करनेके लिए हेलाचार्यने ज्वालामालिनी-की साधना की। देवीने उपस्थित होकर पूछा — क्या चाहते हो? मुनिने कहा — मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरी शिष्याको ग्रहमुक्त कर दो। देवीके मन्त्रसे शिष्या स्वस्थ हो गयी। फिर देवीके आदेशसे हेलाचार्यने ज्वालिनीमतकी रचना की।

इस सघके अधिकाश लेख होयसल नरेशोके हैं। इन लेखोसे ज्ञात होता है कि इस सघके आचार्योंने पद्मावती देवीकी पूजा-प्रतिष्ठामें बडा योग दिया था। लेखोसे यह भी ज्ञात होता है कि इस सघके साधु वसदियोमें रहते थे। उनका जीर्णोद्धार कराते थे, मुनियोके आहार दान, तथा जागीर आदिका प्रबन्ध करते थे।

होयसलोके उत्पत्ति स्थान अगदिसे प्राप्त एक लेखमें (जै० शि० स०, भाग २, लेख न० १६६) द्रविलसघ, कुन्दकुन्दान्वय पुस्तक गच्छ लिखा है। यह लगभग ९९० ई० का है। लेख न० १७८में मूलसघ द्रविडान्वय लिखा है यह लगभग १०४० ई० का है। किन्तु ११वीं शताब्दीके उत्तरार्धके लेख न० १८८, १८९, १९०, १९२, २०२, २१४, २१५, २१६ और २२६में द्रविड गणके साथ नन्दिसघ रुगलान्वय या अरुगलान्वयका उल्लेख किया है।

अनेक लेखोंमें कोण्डकुन्दाचार्य, भद्रबाहु, समन्तभद्र, सिंहनन्दि, पूज्यपाद, अकलंक-जैसे प्रतिष्ठित आचार्योंको भी द्रविड संघके नन्दि संघका बतलाया है। यह हम ऊपर लिख आये हैं कि नन्दिगण यापनीय संघका एक महत्त्वपूर्ण अंग था। इसपर से ऐसी सम्भावना[1] की जाती है कि यापनीय संघसे ही नन्दिसंघ द्रविडसंघमें आया। यह विषय अन्वेषकोंके लिए रुचिकारक हो सकता है।

काष्ठासंघ और माथुरसंघ –

दर्शनसारमें काष्ठासंघकी उत्पत्ति दक्षिण प्रान्तमें आचार्य जिनसेनके सतीर्थ्य विनयसेनके शिष्य कुमारसेनके द्वारा, जो नन्दितटमें रहते थे, वि० सं० ७५३में हुई बतलायी है, और कहा है कि उन्होंने कर्कश केश अर्थात् गौकी पूँछकी पिच्छी ग्रहण करके सारे वागड देशमें उन्मार्ग चलाया। फिर इसके दो सौ वर्ष बाद अर्थात् वि० सं० ९५३के लगभग मथुरामें माथुरोंके गुरु रामसेनने निः-पिच्छिक रहनेका उपदेश दिया और कहा कि न मयूरपिच्छि रखनेकी जरूरत है और न गोपुच्छकी पिच्छी।

प्रायः सभी संघों, गणों और गच्छोंके नाम स्थानों या देशोंके नामपर पड़े हैं। मथुरा नगर या प्रान्तका मुनिसंघ माथुर संघ और काष्ठा नामके स्थानका संघ काष्ठासंघ।

किन्तु पं० बुलाकीचन्द्रके[2] वचनकोशमें, जो वि० सं० १७३७में बना है, लिखा है कि काष्ठासंघकी उत्पत्ति उमास्वामीके पट्टाधिकारी लोहाचार्य-द्वारा अगरोहा नगरमें हुई और काठकी प्रतिमाके पूजनका विधान करनेसे उसका नाम काष्ठासंघ पड़ा।

काष्ठा नामक स्थान भी दिल्लीके उत्तरमें जमुनाके किनारे था। तथा काष्ठासंघकी पट्टावलीमें भी लोहाचार्यका नाम है। ऐसी विश्रुति है कि लोहा-चार्यने ही अग्रवालोंको दि० जैन धर्ममें दीक्षित किया था। जिन लेखोंमें अग्रवालोंका निर्देश है उनमें काष्ठासंघ और लोहाचार्यान्वयका भी निर्देश मिलता है। प्रमाणके लिए देखें भट्टारक सम्प्रदायके लेख नं० ५५५, ५६०, ५६८, ५७०, ५७५, ५७६, ५७७, ५७९, ५९२, ५९३, ६११, ६१५, ६१६, ६१८, आदि। अतः बुलाकीदासके कथनमें कुछ तथ्य प्रतीत होता है। उनमें काष्ठासंघके साथ माथुरान्वयका भी निर्देश है।

---

१. जै० शि० सं० भाग ३, प्रस्ता० पृ० ३७।

२. जै० सा० इतिहास, पृ० २७६।

[1]काष्ठासंघका सर्वप्रथम शिलालेखीय उल्लेख सं० ११५२में हुआ है। चौदहवीं सदीके बाद इस सघकी अनेक परम्पराओंके उल्लेख मिलते हैं। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिने, जिनका समय संवत् १७४७ है, अपनी पट्टावलीमें कहा है कि काष्ठासंघमें नन्दितट, माथुर, बागड़ और लाटबागड़ ये चार प्रसिद्ध गच्छ हुए। किन्तु माथुर, बागड तथा लाटबागड़के बारहवीं सदी तकके जो उल्लेख मिलते हैं उनमें उन्हें सघकी सज्ञा दी गयी है तथा काष्ठासघके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं बतलाया है।

उधर माथुरसघके प्रसिद्ध आचार्य अमितगतिने स० १०५०से १०७३ तक जो अनेक ग्रन्थ रचे हैं उनकी प्रशस्तियोमें माथुरसंघका तो यशोगान है किन्तु काष्ठासघका कोई निर्देश नहीं है।

इसी तरह लाटबागड सघके आचार्य जयसेनने सवत् १०५५में धर्म रत्नाकर ग्रन्थ रचा, इसी सघके दूसरे आचार्य महासेनने लगभग इसी समय प्रद्युम्न चरित रचा, तथा सवत् ११४५में इसीके आचार्यके उपदेशसे एक मन्दिर बनवाया गया। तीनोंने अपनी प्रशस्तियोमें लाटबागड गणकी तो प्रशसा की है किन्तु काष्ठासघका कोई उल्लेख नही किया है। इन सबसे पता चलता है कि लगभग बारहवी सदी तक माथुर, लाटबागड और बागडका काष्ठासघसे कोई सम्बन्ध नहीं था। पीछे कैसे क्या हुआ, यह अन्वेषणीय है।

इन तीनो ही गणोमें अनेक प्रख्यात ग्रन्थकार हुए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओंसे जैन साहित्यके भण्डारकी श्रीवृद्धि की है। सक्षेपमें यह प्रमुख जैन संघोका परिचय है। इनमें से काष्ठासघ और माथुरसघका सम्बन्ध उत्तर भारतमें विशेष रहा है, शेष सब सघ दक्षिण भारतमें ही उत्पन्न हुए प्रतीत होते हैं।



१. भट्टा० सम्प्र० पृ० २१०।

नामानुक्रमणी

इस अनुक्रमणिकामें नामोंके आगे निम्नलिखित संकेताक्षरोंका प्रयोग किया गया है—
क० क०=कन्नड कवि। क० न०=कदम्ब नरेश। क० ग्र०=कन्नड ग्रन्थ। ग० न०=गगनरेश। ग्र०=ग्रन्थ। ग्रा०=ग्राम। ग० रा०=गग राजकुमार। च० न०=चगाल्व नरेश। चा० न०=चालुक्य नरेश। चो० न०=चोल नरेश। जि०=जिनालय। त० क०=तमिल कवि। त० ग्र०=तमिल ग्रन्थ। ता०=ताल्लुका। तृ०=तृतीय। द्वि०=द्वितीय। नो० न०=नोलम्ब नरेश। प० न०=पल्लव नरेश। पु०=पुत्र। प०=पत्नी। प्र०=प्रथम। भ०=भट्टारक। म०=मंत्री म०=मन्दिर। र० रा०=रट्टराज। रा०=राजधानी। रा० न०=राष्ट्रकूट नरेश। रा० व०=राजवंश। वि० न०=विजय नगर नरेश। शा० न०=शान्तर नरेश। शा० रा०=शान्तर राजकुमार। सा०=सामन्त। सि०=सिद्धान्तदेव। से०=सेनापति। स्था०=स्थान। हो० न०=होयसल नरेश।

भ

म

श

स

ह